ऋषि प्रसाद

वर्ष : ३

मार्च - अप्रैल १९९३

अंक : १७

ब्रह्मलीन ब्रह्मनिष्ठ पूज्यपाद स्वामी
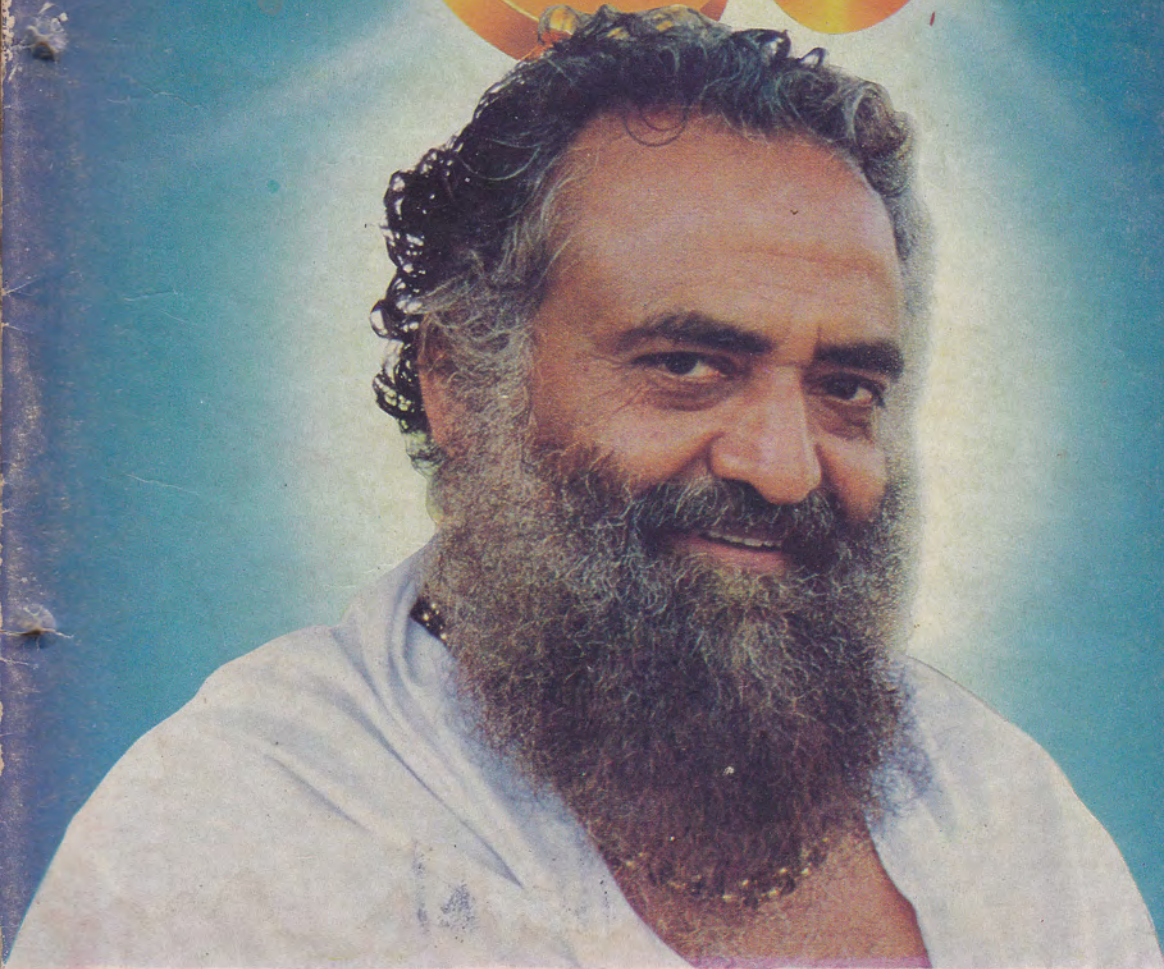
श्री लीलाशाहजी महाराज के अमृत-वचन

शुभ संकल्प और पवित्र कार्य करने से मन शुद्ध होता है, तथा मोक्षमार्ग पर ले जाता है । यही मन अशुभ संकल्प और पापपूर्ण आचरण से अशुद्ध हो जाता है तथा जड़ता लाकर संसार के बन्धन में बाँधता है ।

मन में जबरदस्त शक्ति के भंडार भरे पड़े हैं । यह ऐसा वेगवान अश्व है कि इस पर लगाम हो तो शीघ्र ही मंजिल पर पहुँचाता है । लगाम बिना यह टेढ़े-मेड़े रास्तों पर ऐसा भागेगा कि अंत में गहरी अन्धेरी काँटेदार झाड़ियों में ही गिरा देगा ।

मन को किसी न किसी अच्छे काम में, किसी विचारशील कार्य-कलाप में रोके रखें । कभी आत्मचिन्तन करें तो कभी सत्शास्त्रों का अध्ययंन, कभी सत्संग करें तो कभी ईश्वरनाम-संकीर्तन करें, जप करें, अनुष्ठान करें और परमात्मा के ध्यान में डूबें । कभी खुली हवा में घूमने जायें, व्यायाम करें । आशय यह है कि इसके पैरों में कार्य रूपी बेड़ियाँ डाले ही रखें ।

जिसने अपना मन जीत लिया उसने समस्त जगत को जीत लिया । वह राजाओं का राजा है, सम्राट है । बल्कि सम्राटों का भी सम्राट है ।

अवश और अशुद्ध मन बंधन के जाल में फँसाता है । वश किया हुआ शुद्ध मन मोक्ष के मार्ग पर ले जाता है । शुद्ध और शांत मन में ही ईश्वर के दर्शन होते हैं, आत्मज्ञान की बातें समझ में आती हैं, तत्त्वज्ञान होता है ।

हाथ से हाथ मसल कर, दांतों से दांत भींच कर, कमर कस के, छाती में प्राण भरकर जोर लगाओ और मन की दासता को कुचल डालो, गुलामी की बेडियाँ तोड़ फेंको । सदैव के लिए इसके शिकंजे में से निकल कर इसके स्वामी बन जाओ ।

मन पर विजय प्राप्त करनेवाला पुरुष ही इस विश्व में बुद्धिमान और भाग्यवान है । वही सच्चा पुरुष है । जिसमें मन का कान पकड़ने का साहस नहीं, जो प्रयत्न तक नहीं करता वह मनुष्य कहलाने योग्य ही नहीं है । वह साधारण गधा नहीं अपितु वह मकराणी गधा है ।

आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए तथा आत्मानंद में मस्त रहने के लिए सत्त्वगुण का प्राबल्य चाहिए । स्वभाव को सत्त्व-गुणी बनाइये । आसुरी तत्त्वों को चुन-चुनकर बाहर फेंकिए । यदि आप अपने मन पर नियंत्रण नहीं पायेंगे तो यह किस प्रकार संभव होगा ? रजो और तमो गुण में ही रेंगते रहेंगे तो आत्मज्ञान के आँगन में किस प्रकार पहुँच पायेंगे ?

कहावत है कि 'जैसा खाये अन्न तैसा बने मन ।' इसलिए सदैव सत्त्वगुणी खुराक खाइये । दारू-शराब, माँस-मच्छी, बीड़ी-तम्बाकू, अफीम-गांजा, चाय आदि वस्तुओं से प्रयत्नपूर्वक दूर रहिये । रजोगुणी तथा तमोगुणी खुराक से मन अधिक मलिन तथा परिणाम में अधिक अशांत होता है । सत्त्वगुणी खुराक से मन शुद्ध और शांत होता है । प्रदोष काल में किये हुए आहार और मैथुन से मन मलिन होता है और आधि-व्याधियाँ बढ़ती हैं ।

निष्काम भाव से यदि परोपकार के कार्य करते रहेंगे तो भी मन की मलिनता दूर हो जायगी । यह प्रकृति का अटल नियम है ।

मन के शिकंजे में से छूटने का सरल और सबसे श्रेष्ठ उपाय यह है कि आप किसी समर्थ सद्गुरु के सान्निध्य में पहुँच जायें । उनकी सेवा तन-मन-धन से करें । उनके उपदेश का श्रवण करें, मनन करें, निदिध्यासन करें । उनके पास आध्यात्मिक सत्शास्त्रों का अभ्यास करें, ब्रह्मविद्या के रहस्य जानें और आत्मसात् करें । पक्की खोज करें कि आप कौन हैं ? यह जगत क्या है ? ईश्वर क्या है ? सत्य क्या है ? मिथ्या क्या है ?

सदैव प्रसन्न रहना ईश्वर की सर्वोपरि भक्ति है।

वर्ष : ३
अंक : १७
मार्च–अप्रैल १९९३

शुल्क वार्षिक : रू. २५/–
आजीवन : रू. २५०/–
परदेश में वार्षिक : US$ १५ (डॉलर)
आजीवन : US$ २०० (डॉलर)

कार्यालय :
'ऋषि प्रसाद'
श्री योग वेदान्त सेवा समिति
संत श्री आसारामजी आश्रम
साबरमती, अहमदाबाद–३८० ००५.
फोन : ४८६३१०, ४८६७०२

परदेश में शुल्क भरने का पता :
International Yoga Vedanta Seva Samiti
8 Williams Crest,
Park Ridge, N. J. 07656 U.S.A.
Phone (201) - 930 - 9195

टाईप सेटींग : एच. परीख
प्रकाशक और मुद्रक : श्री के. आर. पटेल
श्री योग वेदान्त सेवा समिति,
संत श्री आसारामजी आश्रम, मोटेरा, साबरमती,
अहमदाबाद–३८० ००५ ने
अंकुर ऑफसेट, गोमतीपुर, अहमदाबाद में
छपाकर प्रकाशित किया।

सदस्य का नाम :
स्थायी सदस्य क्रमांक :

अनुक्रम

'ऋषि प्रसाद' हर दो महीने में ९ वीं तारीख को प्रकाशित होता है।

मन अगर पूरा अच्छाई के तरफ लग जाय तो बेड़ा पार हो जाय । मन कभी ४० प्रतिशत लगता है कभी ५० प्रतिशत लगता है कभी ६० प्रतिशत लगता है । मन की अच्छाई बुराई की मात्राएँ घटती–बढ़ती रहती हैं । मन सत्त्वगुणी होता है तो मन के संकल्प–विकल्प और निर्णय एक प्रकार के होते हैं, रजोगुणी होता है तो दूसरे प्रकार के होते हैं और तमोगुण की प्रधानता हो जाती है तो मन के संकल्प–विकल्प और निर्णय कुछ और प्रकार के होते हैं ।

अलार्म ने घंटी तो बजाई लेकिन जिसने जल्दी उठने का निर्णय किया था, उसीने घंटी बन्द कर दी । कर्त्ता रात्रि में एक किस्म का था और सुबह में दूसरे किस्म का हो गया ।

आदमी रात्रि को निर्णय करता है कि सुबह चार बजे उठकर नहा–धोकर ध्यान–भजन करेंगे । अलार्म घड़ी में चार बजे । अलार्म की घंटी बजी । झट से हाथ फैलाकर घंटी बन्द कर दी । कम्बल ओढ़कर सो गये । उठते–उठते सात बज गये ।

रात्रि को जब सुबह चार बजे उठने का निर्णय किया था, तब माहौल अच्छा था, कोई सत्शास्त्र पढ़ा था, कुछ ध्यान–जप किया था, सात्त्विकता बढ़ी थी । रात्रि को सो गये तो तन–मन में आलस्य, प्रमाद बढ़ गया, तमस् की प्रधानता हो गई । अलार्म ने घंटी तो बजाई लेकिन जिसने जल्दी उठने का निर्णय किया था, उसीने घंटी बन्द कर दी । वही तो कर्त्ता है । कर्त्ता रात्रि में एक किस्म का था और सुबह में दूसरे किस्म का हो गया ।

सात बजे नींद खुली, सूर्योदय हुआ, सूर्यनारायण के दर्शन हुए, बुद्धि में सात्त्विकता का प्रभाव बढ़ा तब पछताये कि अरे ! यह मैंने क्या किया ?

एक ही कर्त्ता तीन प्रकार में बँट गया । एक संकल्प करता है, दूसरा उसे काटता है और तीसरा पछताता है । हम लोग ऐसे कर्त्ता से जुड़े हैं । नकली 'मैं' हमें नकली सुख में ले जाती है और फिर फँसाती है । जब तक हम इसके साथ जुड़े रहेंगे तब तक इसको सत्ता मिलती रहेगी । सत्ता मिलती रहेगी तब तक पहला निर्णय, दूसरा निर्णय, तीसरा निर्णय करती हुई हमें भटकाती रहेगी । कोई भोगी बेचारा भक्ति करने लगेगा तो कई संकल्प करके फिर देखेगा कि 'भगवान को पाना अपना काम नहीं । अपने में यह दोष है..... वह दोष है ।'

जीवन में दोष हो जाना इतना दोष नहीं जितना अपने में दोष मानना दोष है । गुण इतना अभिमान नहीं लाता जितना गुण मुझमें है, यह मानने से आता है । वास्तव में गुण भी माया में होते हैं, दोष भी माया में होते हैं और हमारा वास्तविक आत्मा माया से परे है । अनजाने में, शुद्ध ज्ञान के अभाव में, शुद्ध स्वभाव के अभाव में हम लोग इसमें बह जाते हैं । नकली 'मैं' हमको पटकती रहती है, मन हमको भटकाता रहता है । असली 'मैं' का पता नहीं चलने देता ।

श्रीकृष्ण यहाँ कहते हैं : शुभाशुभ कर्म मुझे अर्पण करके तू संन्यासी हो जा । ऐसा नहीं कि सब कर्म, प्रवृत्ति छोड़कर संन्यासी हो जा, नहीं । कर्म तो कर । शुभ और अशुभ कर्मों का फल मुझ चैतन्य परमात्मा को अर्पित कर दे ।

जब परमात्मा को अर्पित करके कर्म करेंगे तो अशुभ की मात्रा घटने लगेगी । परमात्मा का चिन्तन होगा । इस चिन्तन से मन सत्त्वप्रधान हो जायगा । शुभ की मात्रा बढ़ेगी । सत्त्वगुण बढ़ेगा । कभी गलती से अशुभ भी हो गया तो उसका फल प्रभावित नहीं करेगा । जब शुभ का फल सुख मिलता है तब वह समझता है कि सुख शरीर, इन्द्रिय और मन को हो रहा है । ऐसे ही जब अशुभ का फल दुःख मिलता है तब समझता है कि दुःख भी इन साधनों को मिल रहा है । मैं सुख का भी दृष्टा हूँ और दुःख का भी दृष्टा हूँ । सुख–दुःख से परे निर्मल आत्मा हूँ । बस, हो गया मुक्त ।

'मैं दृष्टा हूँ' यह अनुभूति भी एक साधक अवस्था है । एक ऐसी सिद्धावस्था आती है जहाँ दृष्टा होने का भी सोचना नहीं पड़ता । वह योगी श्रेष्ठ है । सब कुछ करते हुए भी, बालकों में बालक जैसा, जवानों के साथ जवान, वृद्धों के साथ बड़ा बुजुर्ग होते हुए भी भीतर से एकरस । नाचने का मौका आया तो नाच लिया, बँसी बजाने का मौका आया तो बँसी बजा ली, छाछ माँगने का मौका आया तो छाछ माँग ली फिर भी भीतर से कुछ नहीं

'मैं दृष्टा हूँ' यह अनुभूति भी एक साधक अवस्था है । एक ऐसी सिद्धावस्था आती है जहाँ दृष्टा होने का भी सोचना नहीं पड़ता ।

करता ।

ऐसे अपने अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व भाव में जो जग गये हैं उन्होंने पूरे संन्यास को पा लिया है ।

रामकृष्ण परमहंस को चौदह रूपये तनख्वाह पर पुजारी नियुक्त किया गया । दो सप्ताह भी नहीं बीते और ट्रस्टी लोगों ने बुलाया और कहा : "तुम्हारे लिए शिकायतें आती हैं कि तुम पूजा ठीक विधियों से नहीं करते ।"

अब रामकृष्ण जैसा पुजारी मिलना भी मुश्किल । हम लोग विधि-विधान तो कर लेते हैं किन्तु उसमें प्रेम का, भाव का अभाव रह जाता है ।

रामकृष्ण ने कहा : "पूजा में विधि की क्या जरूरत है ? पूजा में तो भीतर का भाव होता है, भीतर का प्रेम होता है । प्रेम में नेम (नियम) की क्या जरूरत ?"

"नहीं, यह कोई छोटी-मोटी बात नहीं है । हम तुम्हें माफ नहीं कर सकते । हमने सुना है : पहले तुम भोजन चखते हो, फिर माँ काली को खिलाते हो । पहले तुम फूल सूंघते हो फिर माँ को चढ़ाते हो । माँ के भोग्य पदार्थों को जूठा करके दे रहे हो ।"

"जूठा करने का कोई इरादा नहीं लेकिन घर में था तब मेरी माँ भी पहले चखती थी, ठीक होता तो हम बच्चों को देती थी, बेठीक होता तो नहीं देती । मैं भी अब देखता हूँ कि भोजन अगर ठीक है, मधुर है तो भगवती को खिलाता हूँ । ऐसा-वैसा भोजन माँ को क्यों खिलाऊँ ? मुझे भाएगा वह माँ को भी भाएगा । जो अपने को अच्छा लगे वही तो प्रेमास्पद को दिया जाता है ।'''

अब रामकृष्ण जैसा पुजारी मिलना भी मुश्किल । हम लोग विधि-विधान तो कर लेते हैं किन्तु उसमें प्रेम का, भाव का अभाव रह जाता है । भगवान के लिए, इष्ट के लिए, सत्कर्म के लिए हृदय में जब प्रीति आती है तब बाहर का अशुभ दिखते हुए भी वह अशुभ नहीं रहता ।

विधि-विधान के मुताबिक देखा जाय तो भगवान को, भगवती को भोजन चखकर दिया जाय यह विधि के खिलाफ है । लेकिन रामकृष्ण परमहंस तो **'शुभाशुभ परित्यागी'** की अवस्था में पहुँच चुके थे । 'मैं माँ को फूल चढ़ाऊँ और माँ मुझे कुछ दे दे.... माँ को भोजन खिलाऊँ और माँ मेरा कोई कार्य संपन्न कर दे....' ऐसा व्यापारी भाव उनमें बिल्कुल नहीं था । वे माँ की पूजा कर रहे थे, नितान्त शुद्ध प्रेम से कर रहे थे । बदले में कुछ नहीं चाहिए । सच्चे संन्यासी होकर पूजा कर रहे थे । हम लोग बिना सूँघे शुद्ध फूल भगवान को चढ़ाते हैं तो भी रामकृष्ण जैसा मजा नहीं आता । क्योंकि जहाँ क्षुद्र अहं होता है वह बदला चाहता है । पूजा के विधि-विधान से वह कुछ न कुछ बदला चाहता है । हम संन्यास को उपलब्ध नहीं हुए । रामकृष्ण संन्यास को उपलब्ध हुए थे ।

अगर आप अपने आप को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देना चाहते हों तो आप युद्ध में भी ईश्वर की पूजा कर रहे हो । भोजन बनाते समय भी उसकी पूजा कर रहे हो । नाचते-गाते, रोते-हँसते भी उसीकी पूजा कर रहे हो । फिर हँसना-रोना, गाना-नाचना, लेना-देना सब तुम्हारे लिए खिलवाड़ मात्र हो जाएगा ।

जब तक भीतर क्षुद्र कर्त्ता बैठा है तब तक मानेगा कि, 'मैं कर्त्ता हूँ । ऐसा करने से फायदा होगा..... वैसा करने से वाह वाही होगी.... यह करने से सुख होगा.... वह करने से दुःख होगा ।' जिससे सुख होगा वह सब करेगा और जिससे दुःख होगा उससे बचेगा । मजे की बात यह है कि मन दो धारी तलवार है । जो सुख के लिए करता है वह दुःख के लिए भी कर बैठता है, अनजाने में ।

मन पूरा प्रेम नहीं कर सकता । मित्र को प्यार करते करते उसके लिए कभी न कभी शत्रुता भी पनप उठे कोई पता नहीं । जब मित्रता का हिस्सा खर्च कर रहे हो तो मन में थोड़ा शत्रुता का हिस्सा है, थोड़ा-थोड़ा वह भी बढ़ रहा है । मित्र की मित्रता प्रसंग आने पर एक क्षण में खो सकती है । मित्र में से ही शत्रु बनते हैं । परिचित से ही शत्रुता होती है ।

साहब आग-बबुला होने लगे और श्रीमतीजी भी साहब के वाक्-बाणों से जल-भुन गई । दोनों के बीच हो गया जोरों का झगड़ा । पिक्चर-पिक्चर की जगह रहा और दोनों ऐसे लड़े कि स्वयं ही पिक्चर बन गये ।

जिससे राग है उससे द्वेष भी जुड़ा है । किसीका कुछ देखकर उससे राग कर रहे हो, प्रेम कर रहे हो तो वह संन्यास का प्रेम नहीं है, स्वार्थ का प्रेम है । किसीका धन देखकर प्रेम किया, सत्ता देखकर प्रेम किया, सौन्दर्य देखकर प्रेम किया तो उस प्रेम के साथ द्वेष भी छुपा

रहता है । राग का हिस्सा जब खत्म होता है तो द्वेष भड़क उठता है । फिर मित्रों के बीच झगड़ा हो जाता है ।

एक पिक्चर चला था । साहब और मेम साहिबा पिक्चर देखने जानेवाले थे । शाम को साहब ऑफिस से जल्दी-जल्दी घर लौटे मगर मेम साहिबा को तैयार होने में देर लग गई । एक ही कलर की साड़ी, ब्लाउज, रिबन, घड़ी की पट्टी, ललाट पर बिन्दी आदि सब तो हो गया.... मेचींग कलर..... लेकिन उसी कलर की चप्पल नहीं मिल रही थी । थिएटर पर पहुँचने में देरी हो रही थी । साहब आग-बबुला होने लगे और श्रीमतीजी भी साहब के वाक्-बाणों से जल-भुन गई । दोनों के बीच हो गया जोरों का झगड़ा । पिक्चर-पिक्चर की जगह रहा और दोनों ऐसे लड़े कि स्वयं ही पिक्चर बन गये । खाना खराब हो गया । दोनों भूखे सो गये । एक कमबख्त चप्पल ने सारा मामला गड़बड़ कर दिया । राग को द्वेष में बदल दिया ।

नकली 'मैं' को बाहर के नकली सुख की आवश्यकता पड़ती है जबकि असली 'मैं' को नकली सुख की पराधीनता नहीं है । वरन् असली 'मैं' ऐसा सुख स्वरूप है कि कहीं भी जाकर खड़ा हो जाय तो सुख ही सुख....... आनन्द ही आनन्द ।

जब तक जीव अपनी असली 'मैं' को नहीं जानता तब तक सुख की खोज में उसे जन्म-मरण के चक्र में जाना पड़ता है । शुद्ध 'मैं' से वह जितना दूर रहेगा उतना उसका जीवन तुच्छ हो जाएगा । बाहर से वह कितना भी ऊँचा दिखता हो, भीतर से राग-द्वेष के, भय के, चिन्ता के डंक क्षण-क्षण में चुभते रहेंगे । चाहे दुनिया की सब संपत्ति उसके पास आ जाय, दुनिया के सब अधिकारी उसके कहने में चलने लगे, किन्तु असली 'मैं' से वह दूर है तो बेचारा अभागा है । चाहे सारी दुनियाँ के लोग विरुद्ध हो जायँ, अगर वह असली 'मैं' से मिला है तो उसको हमारा प्रणाम है । उसके माता-पिता को भी धन्यवाद है ।

एक संत थे । मौज आ गई तो गये बद्रिकाश्रम । रास्ते में भोजन आदि कुछ नहीं मिला तो मन कहने लगा :

'भोजन नहीं मिला है तो कम से कम भगवान से कह दो कि हे प्रभु ! मैं तेरे लिए साधु बना हूँ । कुछ कर दे भोजन के लिए ।'

संत जरा सतर्क थे, सजाग थे, चिन्तक थे । अपने मन से संवाद करने लगे :

'अरे मनीराम ! यह तो तू धोखा दे रहा है । भोजन के लिए भगवान से बोलने की सलाह दे रहा है ! भगवान से भोजन पाने के लिए मैं साधु बना था क्या ? मैं तो भगवान को प्यार करने के लिए साधु बना था ।'

नकली 'मैं' चाहती है कि हम जैसा चाहें वैसा गुरु और भगवान करने लग जायें । यह नकली 'मैं' की नकली प्रीति है । और असली 'मैं' ..... ? आहाहा..... ! साधक का चित्त ऐसा नहीं चाहेगा कि हम जैसा चाहे वैसा गुरु और भगवान करने लगें । नहीं..... । जो उनकी मरजी हो, हम सन्तुष्ट हैं ।

साधु ने मन को डांट दिया । पच्चीस-पचास कदम चले तो मन ने दूसरी चाल चली । मन ने कहा :

'अच्छा ! भगवान से भोजन नहीं माँगते तो कम-से-कम धीरज तो माँग लो कि भूख असह्य न बने ।'

वे साधु साधक थे । आ गये मन के चक्कर में । बोले : 'नाथ ! मैं जैसा भी हूँ, तेरा हूँ । तू मुझे धीरज दे ।'

तब अन्तर्यामी ने आवाज दिया भीतर ही भीतर कि : 'पागल ! धीरज का दरिया मैं तो तेरे साथ बैठा हूँ । तू कौन होता है धीरज लेनेवाला ? तू मिट जा मुझमें तो मैं तू हो जाऊं और तू मैं हो जाय ।'

'तुम अलग रहो और मैं अलग रहूँ और तुम कुछ मुझे दो....' यह संन्यास नहीं हुआ ।

❀

(पेज १४ से चालू...)

ज्यों शुद्ध 'मैं' का जीव को ज्ञान होता है त्यों अशुद्ध 'मैं' का आग्रह कम होता जाता है । जितना अशुद्ध 'मैं' का आग्रह है उतना वह मूर्ख है और जितना शुद्ध 'मैं' का आग्रह है उतना वह विद्वान है, निर्भीक है, आनंदित है, प्रसन्न है । जितना अशुद्ध 'मैं' में प्रीति है उतना वह चिन्तातुर रहता है, फिर चाहे कितना भी सुंदर हो, कितना भी रूपवान हो, कितना भी धनवान हो, लेकिन उसके दोष रहेंगे ही । उस अभागे को पता ही नहीं कि जिस शरीर को जलाना है उसीको तू विलास कराके अपना अंतःकरण मलिन करता है । तुझे अगर सच्चा आनंद चाहिये तो -

दिलें तस्वीरें हैं यार
जबकि गर्दन झुका ली मुलाकात कर ली ।

आनंद का खज़ाना तेरे दिल में पड़ा है ।

❀

गुवाहाटी (आसाम) में पूज्य श्री बापू की सत्संग-वर्षा

गुवाहाटी १८ दिसम्बर ।

प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद संत श्री आसारामजी बापू ने अपनी अमृतवाणी से नारायण के नाम व श्रीमद्भगवद्गीता के इस श्लोक से प्रवचन का प्रारंभ किया –

गीतायाः श्लोकपाठेन गोविन्दस्मृतिकीर्तनात् ।
साधुदर्शनमात्रेण, तीर्थकोटिः फलम् लभेत् ॥

"श्रीमद्भगवद्गीता के इस श्लोक को पढ़ने से, नारायण का कीर्तन करने व सच्चे साधु-संतों के दर्शन मात्र से ही करोड़ों तीर्थों का फल मिल जाता है । गीता भगवान श्रीकृष्ण के मुख से निकली है । गीता का ज्ञान निराश को आशा, हताश को उत्साह और गुमराह को राह दिखाता है । जैसे अर्जुन युद्ध के मैदान में विषाद को प्राप्त हुआ था, उसी प्रकार आज का मनुष्य भी अन्तर्मन के साथ युद्ध में फँसा हुआ है, हमारे हृदय में भी काम, क्रोध, मोह रूपी दुश्मनों से जीवात्मा का युद्ध चल रहा है और इस समय गीता का ज्ञान ही उसे सही दिशा दे सकता है ।"

आज का मनुष्य अंतर्मन के साथ युद्ध में फँसा हुआ है ।

गीताचार्य, ब्रह्मनिष्ठ, तत्त्ववेत्ता एवं कुण्डलिनी योग के विश्वविख्यात आचार्य संत श्री आसारामजी बापू ने कहा कि : "नर और नारी में एक ही चैतन्य परमात्मा विराजमान है और उसका नाम नारायण है। हमारे शरीर कें ७ मुख्य केन्द्र हैं, जिनको जागृत करने से विलक्षण योग्यताएँ विकसित होती हैं और थोड़ा-सा आत्मज्ञान का सहारा लेकर साधक परमात्मा तक पहुँच सकता है।"

पूज्यश्री ने भारतीय संस्कृति की ऊँचाई की चर्चा करते हुए कहा कि : "जब दुनिया के लोग कपड़ा पहनना, अन्न पकाना नहीं जानते थे, तब हमारे ऋषि-मुनियों ने आत्मा-परमात्मा, अतल-वितल, आकाश-पाताल व स्वर्ग की यात्रा की थी । कोलंबस ने अमेरिका को ढूंढ़ा था, उसके ५ हजार वर्ष पहले भारत के वीर अर्जुन सशरीर स्वर्ग में जाकर आये थे और दिव्य शस्त्र लाये थे । ऐसी अद्भुत संस्कृति का खजाना आज भी भारत के नागरिकों के पास उपलब्ध है। पश्चिमवाले पृथ्वी, जल, तेज पर आविष्कार करके दुनिया को चकित कर देते हैं । जब स्थूल प्रकृति के तत्त्वों के आविष्कार से इतना चमत्कार हो सकता है तो आत्मतत्त्व जो सूक्ष्म से सूक्ष्म है और सबका अधिष्ठान है, उसमें स्थित होने पर कितना बड़ा चमत्कार हो सकता है, यह तो आत्मतत्त्व को प्राप्त करने से ही पता चलता है ।"

जब दुनिया के लोग कपड़ा पहनना, अन्न पकाना नहीं जानते थे, तब हमारे ऋषि-मुनियों ने आत्मा-परमात्मा, अतल-वितल, आकाश-पाताल व स्वर्ग की यात्रा की थी ।

प्राणीमात्र के परम हितैषी पूज्यश्री ने कहा कि : "गाय कभी झूठ नहीं बोलती, पेड़ गाली नहीं देता, दीवार कभी चोरी नहीं करती, फिर भी वह जहाँ है वहीं पर है और मनुष्य झूठ बोलता है, गाली देता है, चोरी करता है, परंतु यदि सच्चे संत मिल जाय व सत्संग व सद्विचारों का साथ मिल जाय तो यही मनुष्य इतना महान हो जाता है कि देवता उसका दीदार करके अपना भाग्य बना सकते हैं और वह परमात्म-साक्षात्कार करके जीवन्मुक्त हो जाता है ।

बड़े पुण्यों के फल से ही सत्संग मिलता है और वह भी बड़ा भागी है, जो दूसरों को सत्संग दिलाने की व्यवस्था करता है । वह मनुष्य जाति का सबसे बड़ा उपकारी है । जब ध्यान-कीर्तन से सुषुप्त शक्तियाँ जागृत होती हैं, तब मानव धन, मकान, दुकान व परिवार के संबंधो को छोड़कर परमात्मा से सीधा संबंध जोड़ लेता है । जितनी ही दृढ़ता से मनुष्य परमात्मा के साथ अपना संबंध प्रगाढ़ करता है, उतने ही मनुष्य के अंतरकेन्द्र विकसित होते हैं । वह मनुष्य सरल, प्रसन्न और खुशहाल रह सकता है । ज्यों-ज्यों ध्यान व कीर्तन करता है, उसके अंतर-केन्द्रों का विकास होता जाता है, वह अपने अंदर के काम, क्रोध आदि शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेता है और मनुष्य का सर्वांगीण विकास होता है ।"

पूज्य बापू ने कहा – "मौत आकर हमें मार दे, कुटुंबी स्मशान में छोड़ आयें और अग्नि को समर्पित कर दें, उसके पहले ही जो सबका स्वामी है, उस परमेश्वर से संबंध बना लो । दुनिया के दूसरे

(अनु. पेज २८ पर...)

जितनी सत्संग में रुचि कम होती है उतना निस्सार जगत सार जैसा लगता है । जितना सत्संग का अभ्यास बढ़ता है उतना परमात्मा में सार दिखता है और निस्सार संसार की पोल खुल जाती है । सत्संग के साथ अगर एकान्त मिल जाय तो संसार की पूरी पोल सामने आ जाय और परमात्मा का पूरा वैभव अंतःकरण में चमकने लग जाय ।

जब तक हम मन में जीते हैं, तब तक मन हमें कभी इधर कभी उधर भगा ले जाता है । हम जब अमनी भाव को प्राप्त होते हैं तब संसार की भूल–भूलैया से सावधान हो जाते हैं ।

ऐसा कोई शरीर नहीं जो मरनेवाला न हो । ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं जो टूटनेवाला न हो । ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो प्रलय की बाढ़ में बहनेवाला न हो ।

प्रश्न हो सकता है कि सारे शरीर मरनेवाले हैं, सारे सम्बन्ध टूटनेवाले हैं तो फिर परमात्मा के साथ सम्बन्ध भी क्यों जोड़ें ?

वास्तव में देखा जाय तो परमात्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ना नहीं है । गलत सम्बन्धों की पोल जानने के लिए परमात्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ने को कहा जा रहा है । परमात्मा के साथ सम्बन्ध तो अमिट है, जोड़ा नहीं जाता । जब सम्बन्ध टूटा ही नहीं तो जोड़ना कहाँ रहा ?

परमात्मा को आप छोड़ नहीं सकते किन्तु सत्संग और एकान्त के अभाव के कारण परमात्मा छूटा हुआ लगता है और अभागा संसार मिला हुआ प्रतीत होता लगता है । परमात्म–स्वरूप में जगे हुए संत पुरुष की यह भ्रांति मिट जाती है । उनकी नजरों में संसार का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता । उनके लिए केवल परमात्मा ही परमात्मा रह जाता है । सर्वत्र अपना आपा ही विभिन्न रूपों में खेल करता हुआ दिखाई देता है ।

ऐसा कोई शरीर नहीं जो मरनेवाला न हो । ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं जो टूटनेवाला न हो । ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो प्रलय की बाढ़ में बहनेवाला न हो ।

उमा संत की यही बढ़ाई
मंद करत ता ही करत भलाई ।

जिनके जन्म–मृत्यु के चक्र का अंत हो गया है, जिनके अज्ञान का, बेवकूफी का अंत हो गया है वे संत हैं । संत समझते हैं कि बुराई करनेवाले में उसके मन के विचार अलग हैं, बाकी हूँ तो उसमें भी मैं ही । इसी ज्ञान के कारण संत लोग बुराई करनेवालों की भी भलाई ही करते हैं । संतों का ऐसा स्वभाव होता है ।

इस कलहयुग को देखते हुए किसी संत ने कहा :

कलिकाल की यही बढ़ाई ।
खावहिं रोटी करहिं लड़ाई ।।

ऐसा क्यों होता है ? सत्संग के अभाव के कारण। हम जीवन में सत्संग का सदुपयोग नहीं कर पाते ।

अभी जीव का अहंकार मिटा नहीं, देहाभिमान गला नहीं, परमात्मा के साथ अपना नित्य सम्बन्ध जानने की घड़ियाँ आई नहीं । बिना आत्मबोध के इस अभागे जीव को कितनी भी सुविधाएं दे दो, कितने ही उपदेश दे दो, कितनी ही सीख दे दो, वह कभी न कभी, कुछ न कुछ गड़बड़ कर ही बैठेगा । क्योंकि जब तक हम मन से जुड़े रहेंगे और मन विषय–विकारों से जुड़ा रहेगा तब तक पतन, विनाश और जन्म मरण चालू रहेगा । मन अगर सत्शास्त्र और सत्गुरु के अनुसार सत्यस्वरूप में टिकेगा तो ब्रह्मरूप हो जायेगा ।

तुलसीदासजी ने ठीक ही कहा है :

निज सुख बिन मन होवहिं कि थिरा ।

निज आत्मा के सुख के बिना मन स्थिर नहीं हो सकता । उसके साथ जुड़ा हुआ जीव भी स्थिर नहीं हो सकता । अपना कल्याण चाहनेवालों को सदैव स्थिर रहनेवाले सच्चिदानंद साक्षी के चिन्तन, ध्यान, भक्ति और सत्कार्य में अपने को प्रयत्नपूर्वक लगाये रखना जरूरी है ।

मनः एव मनुष्याणां
कारणं बन्धमोक्षयोः ।

मन अगर पूर्णता की तरफ आ जाय, पूर्णता में डट जाय, इमानदार हो जाय तो बेड़ा पार कर दे। मन बेईमान हो गया तो संसार–बन्धन में नचाता रहेगा । इस संसार–बन्धन को काटने के लिए, मन की चुंगल से बचने

के लिये भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं :

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।

'हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है यह सब मुझे अर्पण कर ।'

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ।।

'कर्मों को मेरे अर्पण करने रूप संन्यासयोग से युक्त मनवाला तू शुभाशुभ फल रूप कर्मबन्धन से मुक्त हो जाएगा और मुझको प्राप्त हो जाएगा। '

(भगवद्गीता : ९.२७, २८)

ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जो निष्कर्म हो जाय । कर्म तो होते ही रहते हैं। कर्म होते हैं देह से, कर्म होते हैं इन्द्रियों से, मन से, संसारी साधनों से। संसारी साधन हैं प्रकृति के, माया के । माया के साधनों से कर्म होते हैं। इन कर्मों में, गलती से हम अपना कर्त्तृत्वभाव आरोपित कर देते हैं। कर्म के कर्त्ता बन जाते हैं।

वास्तव में हम कोई भी कर्म स्वतंत्र ढंग से कर नहीं सकते। कोई भी कर्म नितान्त शुद्ध नहीं होता । कितना भी शुभ कर्म करें, शुभ कर्म किया हमने। मंदिर बनवाया, पाँच-दस लाख खर्च किये तो ये रूपये एकत्रित करने में कुछ न कुछ तो किया होगा। हमने यज्ञ किया, अच्छा कर्म है, फिर भी यज्ञ के समय कितने ही जीव-जन्तु मरे होंगे और यज्ञ में स्वाहा करने की चीज-वस्तुएँ जुटाने के लिये भी तो कुछ किया होगा।

जो कुछ कर्म करते हैं उसमें शुभाशुभ मिश्रित होता है। उसका फल भी मिश्रित ही होता है सुख और दुःख।

ये सब शुभाशुभ कर्म अपने आत्मा में नहीं हैं। कर्म सब बाहर हैं। श्रीकृष्ण युद्ध के मैदान में मुक्ति का अनुभव करा रहे हैं। वे अर्जुन से कह रहे हैं कि युद्ध तो तू कर, लेकिन 'मैं युद्ध का कर्त्ता हूँ' ऐसा मत समझ। सामनेवाले का गला तो काट, पर 'मैंने काटा' ऐसा मत सोच । जब तेरा गला कट जाय तब भी ऐसा मत समझना कि मेरा गला कटा और उसने काटा। समझना कि यह सब माया में हो रहा है। युद्ध में गला काटना भी माया में और कटना भी माया में। मुझमें नहीं।

बिना आत्मबोध के इस अभागे जीव को कितनी भी सुविधाएं दे दो, कितने ही उपदेश दे दो, कितनी ही सीख दे दो, वह कभी न कभी, कुछ न कुछ गड़बड़ कर ही बैठेगा ।

जीव बेचारा धोखा खा जाता है। हम लोगों को अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं इसलिए धोखा ही खाते हैं। काम होता है इन्द्रियों से, शरीर से, मन से और मानते हैं हमने किया । काम होता है संसार में , काम होता है माया में और थोप लेते हैं अपने में, क्योंकि अपने आप का पता नहीं।

अपना आप एक निरंजन, निरामय, निराकार, विशुद्ध तत्त्व है। इसका बोध न होने के कारण सब कल्पित अहंकार खड़ा हो जाता है। इस कल्पित अहंकार को हम अपना आपा मान लेते हैं। असली 'मैं' का पता नहीं, नकली को 'मैं' मानकर जी लेते हैं ।

असली 'मैं' का बोध क्यों नहीं है ? क्योंकि बोध पाने की तड़फ नहीं है। तड़फ है और बोध नहीं हुआ तो समझो बोध करानेवाले महापुरुषों का संपर्क नहीं हुआ।

असलियत को नहीं जाना कि हम क्या हैं, इसलिए ऊँची दीवारें खड़ी करके खुश हो रहे हैं कि देखो, हमारा बंगला इतना बड़ा है। फैक्ट्री लगाकर दिखाना चाहते हैं कि इतने बड़े हैं । मंदिर बनवाते हैं तो अपने क्षुद्र अहंकार को पोषने के लिए तख्तियाँ लगवाते हैं । अपनी वास्तविक 'मैं' को नहीं जानते इसलिए थोपी हुई 'मैं' को अमर रखने के लिए उधम मचाते रहते हैं । इसमें भी अपने से किसीकी बड़ी 'मैं' दिखती है तो ईर्ष्या होती है । छोटी 'मैं' दिखती है तो अहंकार होता है ।

असली 'मैं' तो एक अद्वैत है, सर्वव्यापक है, निरामय है, शांत है । उसमें विश्रांति है, सच्चाई है, पवित्रता है । वहाँ कोई संघर्ष नहीं, कोई ईर्ष्या नहीं, कोई स्पर्धा नहीं, कोई दुःख नहीं । वहाँ पूरा जीवन है, पूरा प्रेम है, पूरा आदर है, पूरी तसल्ली है, पूरी शाश्वतता है, पूरी अमरता है ।

बालक कब तक बालक रहता है ? जब तक उसकी नकली 'मैं' पनपी नहीं, बीजरूप में है, विकसित नहीं हुई ।

श्रीकृष्ण अपनी असली 'मैं' में ठहरे हुए थे । लोग भी चकित हुए होंगे कि इतना पूरा ज्ञानी बँसी बजाने लग जाता है ! इतना पूर्ण पुरुषोत्तम और छछियन भरी छाछ पे नाचने लग जाता है !

नकली 'मैं' को खतरा होगा

कि नाचूंगा तो लोग क्या बोलेंगे ? बँसी बजाऊँगा तो लोग क्या सोचेंगे ? नकली को कदम–कदम पर खतरा होता है, असली को क्या खतरा ?

बालक में जब तक नकली 'मैं' पनपी नहीं, **Create** नहीं हुई तब तक वह नाचता भी है, कूदता भी है, रोता भी है, गिड़गिड़ाता भी है और मुक्तता से हँसता भी है । बालक कब तक बालक रहता है ? जब तक उसकी नकली 'मैं' पनपी नहीं, बीजरूप में है, विकसित नहीं हुई ।

नकली 'मैं' चाहती है कि दान किया उसका तख्ता लगा रहे और काले कर्म किये वे गुप्त रह जायँ । जेब काटा तो जेब का माल मेरे पास रह जाय और जेब काटने की बात कोई जाने नहीं ।

संत यानी क्या ? जिसकी नकली 'मैं' का अंत हो गया वह संत । मानी हुई 'मैं' का अंत हो गया और जानी हुई 'मैं' में जिसने विश्रांति पा ली वह संत ।

शुभाशुभ कर्म और फल असली 'मैं' से बाहर होते हैं । कर्म का फल भी वास्तविक 'मैं' को नहीं लगता । शुभाशुभ कर्मों का फल है सुख–दुःख । सुख–दुःख भी होते हैं नकली 'मैं' को । आत्मा को सुख–दुःख नहीं होता ।

नकली 'मैं' चाहती है कि दान किया उसका तख्ता लगा रहे और काले कर्म किये वे गुप्त रह जायँ । जेब काटा तो जेब का माल मेरे पास रह जाय और जेब काटने की बात कोई जाने नहीं ।

नकली 'मैं' में बड़ी बेईमानी रहती है । वह डरती रहती है, झिझकती रहती है । वह चाहती है कि यश तो खूब हो लेकिन मेरी निन्दा न हो । सुख तो खूब मिले किन्तु दुःख कभी न मिले। कितनी बेबुनियाद बात है ?

जिसने असली 'मैं' को जान लिया वह समझता है कि सुख और दुःख दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं ।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।

सुख–दुःख, यश – अपयश, मान–अपमान आदि सब द्वन्द्व आने–जानेवाले तथा अनित्य हैं । **आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।**

जैसे रात के पीछे दिन, दिन के पीछे रात लगी है ऐसे ही सुख–दुःख, मान–अपमान आदि द्वन्द्वों का चक्र है । यह संसार का खिलवाड़ मात्र है । यह सब माया में हो रहा है, असली 'मैं' में नहीं होता । जीव बेचारा इसे अपने में मानकर परेशान हो रहा है । अपने में मान लेता है तो यह ठोस हो जाता है और अपने आपको भूल जाता है । उसे अपने आप का पूरा ज्ञान नहीं, अपने आपमें पूरी विश्रांति नहीं ।

श्रीकृष्ण युद्ध के मैदान में अर्जुन से कह रहे हैं : शुभ और अशुभ दोनों कर्मों के फल को तू मेरे में अर्पण कर दे, मुझ असली चैतन्य तत्त्व में अर्पित कर दे ।

जैसे गंगाजी सागर में मिल जाती है तो गंगाजी का शीतल जल, पवित्र जल और उसके साथ बहा हुआ कूड़ा–कर्कट भी जाकर सागर में मिल जाता है, सागर हो जाता है । फिर ठण्डा जल भी नहीं और गर्म जल भी नहीं । अब तो सब सागर बन गया ।

ऐसे ही नकली 'मैं' अपने को आज तक स्वतंत्र मान रही थी । इसीलिये परिच्छिन्न रहकर परेशानी मोल ले रही थी । असली 'मैं' का बोध हो जाता है तो वह विराट चैतन्य सत्ता से एक हो जाती है । फिर अपना अलग अस्तित्व नहीं रखती । सुख–दुःख आदि द्वन्द्वों से पार हो जाती है । गंगाजी सागर में मिली तो अपनी अलग धारा रखकर नहीं दौड़ती । सागर में मिली तो सागर हो गई । ऐसे ही अपनी मनःवृत्ति उस चैतन्य स्वरूप में पूर्ण रूप से विलीन हो गई तो अपना स्वरूप भी चैतन्य हो गया । ऐसा नहीं कि हम परमात्मा का अंश हैं, एक हिस्सा हैं, एक टुकड़ा हैं । नहीं। परमात्मा के टुकड़े नहीं हो सकते । परमात्मा कोई नश्वर चीज नहीं जिसको खण्ड–खण्ड कर सकें । परमात्मा एक अखण्ड सत्ता है ।

भगवान का सच्चा भक्त दिखावे के लिए शुभ नहीं करता और नर्क के भय से अशुभ नहीं छोड़ता किन्तु परम शुभ परमात्मा के चिन्तन से उसके मन की वृत्ति पावन हो जाती है । उसके द्वारा जो होता है वह बढ़िया हो जाता है ।

जैसे आकाश के टुकड़े नहीं हो सकते किन्तु बाह्य उपाधि से महाकाश में घटाकाश, मठाकाश, मेघाकाश आदि प्रकार के खण्ड दिखते हैं । खण्ड–खण्ड दिखने पर भी आकाश में खण्डता नहीं होती ऐसे ही अनेक हृदयों में, अनेक मन के द्वारा, अनेक अन्तःकरणों के द्वारा, अनेक इन्द्रियों के द्वारा, अनेक क्रिया–

कलाप, अनेक शुभाशुभ चेष्टाएँ होने पर भी सर्वव्यापक एक अखण्ड परमात्मा–चैतन्य सत्ता में कोई फर्क नहीं पड़ता । वही अखण्ड चैतन्य सत्ता हम लोगों की वास्तविक 'मैं' है । मगर साढ़े पाँच फुट की देह में, इन्द्रियों में, अन्तःकरण में अपनी 'मैं' को थोप देते हैं और धोखा खाते हैं । इस नकली 'मैं' में बैठकर कोई भी शुभ कर्म करो, कुछ न कुछ अशुभ हो ही जायगा ।

भगवान का सच्चा भक्त दिखावे के लिए शुभ नहीं करता और नर्क के भय से अशुभ नहीं छोड़ता किन्तु परम शुभ परमात्मा के चिन्तन से उसके मन की वृत्ति पावन हो जाती है । उसके द्वारा जो होता है वह बढ़िया हो जाता है।

भगवान के भक्त की नजर, साधक की नजर शुभाशुभ फल पर नहीं रहती । उसकी नजर शुभाशुभ कर्म का फल सुख–दुःख जिसकी सत्ता से दिखता है, जिसकी सत्ता से विश्व चल रहा है उस सर्वसत्ताधीश पर है । इसीलिए भक्त या साधक अगर सुखी होता है तो समझता है कि यह भगवान का प्रसाद है । जब दुःख होता है तब समझता है कि जैसे सुवर्णकार सुवर्ण को तपा–तपाकर शुद्ध करता है ऐसे ही भगवान की आह्लादिनी शक्ति मुझे कष्ट में तपाकर निर्मल बना रही है । यह भी उसीका प्रसाद है।

तेरे फूलों से भी प्यार तेरे काँटों से भी प्यार...
जो भी देना चाहे दे दे करतार, दुनियाँ के तारणहार ।
हमको दोनों है पसन्द तेरी धूप और छाँव ।
दाता ! किसी भी दिशा में ले चल जिन्दगी की नाव ।।
चाहे हमें लगा दे पार चाहे छोड़ हमें मझधार,
......जो भी देना चाहे0

पूर्व के शुभाशुभ कर्मों का फल सुख–दुःख भोगते समय भक्त, साधक 'मैं अपने कर्मों का फल भोग रहा हूँ ऐसा सोचकर सुखी, दुःखी या अहंकारी नहीं होता । सुख मिलता है तो यह नहीं कहता कि मैंने अच्छे कर्म किये हैं उसका फल सुख भोग रहा हूँ ।' दुःख भोगते समय ऐसा नहीं बोलता कि 'मैंने पाप किये.... हाय रे हाय.....! मैं दुःख भोग रहा हूँ ।' नहीं ...... । भक्त साधक सोचता है कि यह भगवान का परम कल्याणकारी विधान है । भगवान जीव मात्र के परम हितैषी हैं । वे जो करते हैं, मेरे मंगल के लिए, मेरे कल्याण के लिये करते हैं । मेरे प्रभु कितने दयालु हैं !

सुदामा अपने बालसखा श्रीकृष्ण के यहाँ गये तो श्रीकृष्ण ने उनके पैर धोये । पैर से काँटा निकालने के लिए सुई लाने में देर हुई तो अपने दाँतों से काँटा खींच निकाला । सुदामा के तंदुल प्रेमपूर्वक खा लिए । उनका सारा दुःख सुना, फिर भी बिदाई के समय कुछ दिया नहीं । ओढने के लिए दुशाला दिया था वह भी वापस ले लिया । इतने पर भी सुदामा सोचते हैं कि, 'भगवान कितने दयालु हैं ! गरीब मित्र अमीर मित्र से कुछ लेकर जा रहा है ऐसा लोगों की नजर में आयेगा तो ठीक नहीं, इसलिए भगवान ने दुशाला भी वापस ले लिया । भगवान कितने दयालु हैं !'

सुदामा जब घर पहुँचे तो पत्नी सुशीला सजीधजी महारानी की नाईं सामने आई । सुदामा चकित होकर पूछने लगे :

"यह महल किसका है ?.... और तू महारानी जैसी लग रही है ? क्या बात है ?"

"आपके उस परम मित्र ने सब कुछ कर दिया ।" हर्ष से नयन नचाकर सुशीला ने बताया ।

सुदामा बोले : "भगवान कितने दयालु हैं ! मेरा भक्त रोजी–रोटी की चिन्ता में कहीं आत्मानन्द भूल न जाय ऐसा जानकर घर बैठे सब कुछ कर दिया ! वाह मेरे प्रभु !"

इसीका नाम है –

तेरे फूलों से भी प्यार तेरे काँटों से भी प्यार..... ।

❀

(पेज २२ से चालू...)

क्षमा ? मैं तुम पर नाराज ही नहीं हुआ । तुम अपने रास्ते जाओ मैं अपने । हमारे जैसे दरिद्रों के पीछे तुम्हें समय खराब करना उचित नहीं । तुम तो बड़े सेठ हो। नौकर पहरा देते हैं । कोई द्वार पर – चौखट पर आ जाय तो उसे धक्का देने के लिये भी नौकर रखे होते हैं । ऐसे तुम समझदार हो और हम तो नासमझ । तुम्हारा और हमारा मार्ग ही अलग है, अतः जाओ ।"

सेठ बोले – "बाबाजी ! मुझे क्षमा कर दो और उस लोहार को जो भवन बना दिया वैसा ही मुझे भी बना दो ।"

तृष्णा अन्धी है । लाला लाभ बिना नहीं लोटता ।

नश्वर पदार्थों में डूबे हुए सेठ की बुद्धि उस सिद्धपुरुष से नश्वर वस्तुएँ ही मांगती है । शाश्वत परमात्मभक्ति, परमात्मज्ञान, परमात्मानुभव की रुचि जागृत हो ऐसे आशीर्वाद मांगे होते तो निहाल हो जाता !

❀

नचिकेता को यमराज का तत्त्वोपदेश

अशरीरं शरीरेषु अनावस्थे स्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न सोचति ॥

'जो शरीर में शरीर रहित, अनित्य में नित्यरूप है, उस महान सर्वव्यापक आत्मा को जानकर बुद्धिमान शोक नहीं करता ।'

यह कठोपनिषद के प्रथम अध्याय की द्वितीय वल्ली का बावीसवाँ श्लोक है ।

नचिकेता यमपुरी में गये हैं । यमराज ने तीन वरदान दिये हैं । नचिकेता ने वरदान में ब्रह्मविद्या माँगी है । यमराज कहते हैं कि :

''ब्रह्मविद्या मत माँग, आत्मज्ञान मत माँग, और कुछ माँग ले । लम्बा आयुष्य माँग ले, निष्कंटक राज्य माँग ले, पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र माँग ले । ब्रह्मविद्या मत माँग क्योंकि यह दुर्लभ विद्या है ।''

नचिकेता ने तमाम प्रलोभनों में अपनी अस्वीकृति बताई और केवल ब्रह्मविद्या पाने की ही रुचि बताई । तब यमराज ने नचिकेता की प्रशंसा की ।

दुर्लभ है ऐसा विचारवान जिज्ञासु !

छोटी बुद्धि के लोग जिस देह में रहते हैं, उस देह को 'मैं' मानकर, उस देह के साधनों को जुटा-जुटाकर जीवन पूरा करके मृत्यु के मुँह में चले जाते हैं । इस जन्म में जैसा आकर्षण होता है जन्मांतर में वैसी ही देह उन्हें मिलती है । उनके अनगिनत जन्मों का अंत नहीं आता । **'अशरीरं शरीरेषु...'** वे शरीर में होते हुए भी अशरीरी हैं, देह में होते हुए भी देह से परे हैं । मरनेवाले में होते हुए भी जिसको मौत छू नहीं सकती ऐसे हैं । बाल्यावस्था, जवानी, वृद्धत्व और मृत्यु होने पर भी जिसकी न बाल्यावस्था होती है, न जवानी होती है, न वृद्धावस्था होती है, न मृत्यु होती है । काला-गोरा, नाटा-ठींगना, मोटा होने पर भी जो मोटा पतला, काला-गोरा नहीं होता । **'अशरीरम् शरीरेषु...'** सप्तमी विभक्ति का बहुवचन है । शरीरों में होते हुए भी अशरीरी हैं । जब तक अपने अशरीरी स्वभाव को यह जीव जानता नहीं तब तक इसके सिर से दुर्भाग्य का चक्र दूर नहीं होता । रूपया कम मिलना या सत्ता कम-ज्यादा मिलना यह सापेक्ष सौभाग्य या दुर्भाग्य है, लेकिन वास्तविक सौभाग्य है कि शरीर में अशरीरी अपनी 'मैं' का साक्षात्कार करना । शरीर में रहते हुए जो शरीर से परे है उस अपने असली स्वरूप का ज्ञान पाना यह परम सौभाग्य है और उस स्वरूप का ज्ञान न पाकर शरीर को 'मैं' मानना यह बड़े में बड़ा दुर्भाग्य है । सारे दुःखों का मूल यही है ।

छोटी बुद्धि के लोग जिस देह में रहते हैं, उस देह को 'मैं' मानकर, उस देह के साधनों को जुटा-जुटाकर जीवन पूरा करके मृत्यु के मुँह में चले जाते हैं । इस जन्म में जैसा आकर्षण होता है जन्मांतर में वैसी ही देह उन्हें मिलती है । उनके अनगिनत जन्मों का अंत नहीं आता ।

यमराज ने नचिकेता से कहा कि -

''सौ वर्ष का राज्य और आयुष्य माँग ले ।''

नचिकेता बोले - ''आयुष्य हो और राज्य हो परंतु पुत्र मरेगा तो दुःख होगा ।''

यमराज बोले - ''पुत्र नहीं मरेगा ।''

नचिकेता बोले - ''पुत्र नहीं मरेगा परंतु वह आज्ञाकारी नहीं होगा तो भी दुःख । आज्ञाकारी भी होगा और बहू अच्छी नहीं मिलेगी तो भी दुःख । बहू अच्छी मिले और उसको लड़का नहीं होगा तो भी चिंता ।''

''लड़का भी अच्छा होगा ।''

''सब अच्छा होगा तो मृत्यु के समय घटिया-घटिया छोड़ने में भी मुसीबत होती है तो बढ़िया-बढ़िया छोड़ने में और मुसीबत होगी । महाराज ! कृपा करके ऐसा दीजिये जो छोड़ना न पड़े और घटिया-बढ़िया की चिन्ता न करनी पड़े ।''

''वह तो आत्मज्ञान है । उसके बराबर दुनिया की कोई चीज नहीं है ।''

''तो नाथ ! आप कृपा करके वह आत्मज्ञान मुझे दीजिए ।'' नचिकेता ने बिनंती की ।

यमराज ने कहा कि - ''वह आत्मज्ञान अति दुर्लभ है । देवों को भी दुर्लभ है । उसका वक्ता आश्चर्यकारक होता है । उसका श्रोता भी आश्चर्यकारक होता है ।''

आश्चर्यो वक्ता कुशलानुशिष्टः ।

इस कथा को सुनने के लिए शुकदेवजी ने इक्कीस दिन राजा

जनक के द्वार पर पसीना बहाया था । खड़े रहे थे धूप में। मान–अपमान के वचन सहन किये थे । अरे ! हजारों ज़नम में घोड़े–गधे बनकर कौड़े खाये, डंडे खाये तो ब्रह्मज्ञान के लिए अगर थोड़ा–सा मान–अपमान सह लिया और जनक की मुलाकात हुई तो सौदा सस्ता है । २२ दिन तक द्वारपालों ने अलग–अलग जगह पर रोक रखा जनक के कहने से, फिर भी शुकदेवजी भागे नहीं । हम भी ७०–७० दिन तक गुरु के द्वार पर जंगल में रहे थे, ४० दिन तक तो गुरुदेव के दर्शन नहीं हुए थे । ४० दिन के बाद साँईं लीलाशाह के दर्शन हुए और ३० दिन वहाँ रहे । फिर आये, फिर गये ऐसा करके...

रंग लागत लागत लागत है,
भौ भागत भागत भागत है ।

सम्राट के साथ राज्य करना भी बुरा है, न जाने कमबख्त कब रुला दे ! और फकीरों के द्वार पर भीख माँगकर भी रहना अच्छा है, न जाने कब प्रभु से मिला दे ! ऐसा फकीरी अमृत जिसके जीवन में नहीं आया वह धनवान होते हुए भी वास्तव में धनवान नहीं है । सत्तावान होते हुए भी सत्तावान नहीं है ।

सम्राट के साथ राज्य करना भी बुरा है, न जाने कमबख्त कब रुला दे ! और फकीरों के द्वार पर भीख माँगकर भी रहना अच्छा है, न जाने कब प्रभु से मिला दें !

कबीरा यह जग निर्धना धनवंता नहीं कोई ।
धनवंता तेहु जानियो जाको रामनाम धन होय ।।

यह सारा जग निर्धन है । सच्चा धन उस आत्मदेव के खजाने में से मिलता है और ऐसा अद्‌भुत वह खजाना है कि कई सूर्यों को, कई आकाशगंगाओं को, कई दानवों को, मानवों को जहाँ से सत्ता मिलती है, जहाँ से सौंदर्य का दान मिलता है, जहाँ से बुद्धि को बल मिलता है, चतुरों को जहाँ से चतुराई मिलती है, प्रेम, दया, सच्चाई, सरलता के सद्‌गुण हजारों युगों से जहाँ से प्रकट होते थे, अभी होते हैं और बाद में भी होते रहेंगे उस अखूट खजाने में आज तक कोई कमी नहीं आई । ऐसे आत्मखजाने से तीन मिनट भी मुलाकात हो जाये तो बेड़ा पार हो जाता है ।

'अशरीरम्.....' शरीर में रहते हुए भी जो अशरीरी है, अपना आपा है उसका ज्ञान नचिकेता को यमराज दे रहे हैं । हकीकत में शरीर और तुम एक हो नहीं सकते परंतु अपने को भूलकर ऐसी 'मैं' मानने की गलती हुई कि दिन–रात शरीर की सुरक्षा... खिलाना–पिलाना, घुमाना–नहलाना... व्यक्ति इसीके लिए सर्वस्व करता है । जो देह को 'मैं' मानता है, इन्द्रियज्ञान को सच्चा मानता है, संसार को सच्चा मानता है, कूड़–कपट, चोरी–दगा, अनाचार–शोषण आदि करके जो आदमी सुखी रहना चाहता है उसको तो पता ही नहीं कि सुखी रहनेवाला यह पुतला मर जायेगा, जल जायेगा । सपनेतुल्य संसार की बीती हुई बातों को याद करके, बीते हुए सुख को, मान को याद करके जो अपना हृदय मलिन करता है उसको पता ही नहीं कि शरीर मलिन होगा तो पानी से नहाकर पवित्र हो जायेगा, लेकिन हृदय मलिन होगा तो पानी से वह पवित्र नहीं होगा । हृदय को मलिन करने से बचाना चाहिये । चित्त की मलिनता अशुद्धि है । सुख की इच्छा से और दुःख के भय से चित्त मलिन होता है । भूतकाल के चिन्तन से चित्त मलिन होता है । भविष्य के भय से चित्त मलिन होता है ।

हकीकत में न भूतकाल वास्तव में है न भविष्यकाल वास्तव में है । वास्तव में तो एक ही काल वर्तमान है । पीछे की वृत्ति होती है तो भूत लगता है और वृत्ति आगे जाती है तो भविष्य लगता है । वृत्ति हमेशा वर्तमान चैतन्य से स्फुरित होती है । वर्तमान चैतन्य का – जहाँ से वृत्ति स्फुरित होती है उसका ज्ञान पा लें तो हृदय पवित्र हो जाता है, हृदय सुंदर हो जाता है, हृदय दिव्य हो जाता है ।

बड़े महलों में रहने से आदमी बड़ा नहीं होता है । बढ़िया गाड़ी में घूमने से आदमी बढ़िया नहीं होता है। सुंदर कपड़े पहनने से आदमी सुंदर नहीं होता है । जिसका दिल बढ़िया है वह वास्तव में बढ़िया है । जिसका दिल दिलबर के ध्यान में लगा है, जिसका दिल दिलबर के ज्ञान में लगा है, जिसका दिल अपने जीवनदाता के विश्रान्ति–स्थल में लगा है, उसका ही दिल पवित्र है ।

शरीर में आठ खोड़वाले, काले वर्ण, ठिंगने कद और टेढ़ी–मेढ़ी कायावाले अष्टावक्र भी दिल पवित्र, आत्ममस्ती में रंगा होने के कारण जनक राजा के गुरु बनते हैं । जनक राजा उनकी चरणरज लेकर अपना भाग्य बनाते हैं । बाहर के सुंदर महलों से या सुंदर शरीर से बड़प्पन मानना यह तुच्छ दृष्टि है । लेकिन अंदर के आचार–विचार से, अंदर की ज्ञानदृष्टि से जो बड़प्पन है वह वास्तविक बड़प्पन है ।

(अनु. पेज ७ पर...)

जनक-शुकदेव ज्ञानवर्षा

शुकदेवजी महाराज से वेदव्यासजी भगवान ने कहा कि पूर्ण ज्ञान चाहिये तो राजा जनक के पास जाओ । शुकदेवजी जनक के द्वार पर आये हैं । द्वारपालों को जनक ने कहा कि :

''वे सचमुच में अशरीरी का बोध पाना चाहते हैं कि ऐसे ही आये हैं ? जरा उनको रोक दो ।''

रोक दिये गए । कुछ दिन बीते । जनक ने पूछा–

''हैं कि चल दिये ?''

द्वारपाल बोला – ''धूप में भी निश्चिन्त हैं और छांव में भी निश्चिन्त हैं, मान में भी निश्चिन्त हैं और अपमान में भी निश्चिन्त हैं ।''

जनक ने कहा – ''उन्हें खूब भोग भोगने के लिए दो और अंतःपुर में रखो ।''

पचास युवतियाँ उनकी चाकरी में लगा दी गई । विविध प्रकार के खाद्य व्यंजन दिये परंतु शुकदेवजी ने जितनी जरूरत थी उतना ही औषधवत् खाया । जब शयनखंड में उन युवतियों ने पहुँचा दिया तो रात्रि के पहले प्रहर में शुकदेवजी ध्यानमग्न हो गये और आखिरी प्रहर में भी उठकर समाधिस्थ हो गये ।

रात्रि का प्रथम प्रहर भोजन, विनोद और हरिस्मरण में बिताना चाहिये । दो प्रहर आराम करना चाहिये और रात्रि का जो चौथा प्रहर है, उसमें शरीर में रहते हुए अपने अशरीरी स्वभाव का चिन्तन करके ब्रह्मानंद का खजाना पाना चाहिये । शुकदेवजी महाराज का समय इसी प्रकार व्यतीत हुआ ।

जनक ने पूछा – ''वे भोगों में लंपट हुए या भोगों से भाग गये ?''

नौकर बोले – ''न भागे न आसक्त हुए । धूप से भी ड़रे नहीं, छाँव में चिपके नहीं, दुःख से भागे नहीं, सुख में चिपके नहीं, हास्यविलास में फँसे नहीं और उनसे भागे भी नहीं । इनके चित्त में अभूतपूर्व समता है ।''

दही गाढ़ा होता है तो उसकी कीमत होती है । पानी जैसा होकर बह जाय तो वह दही थोड़े ही कहा जाता है ? ऐसे ही चित्त में समता होती है तो उसके जीवन की कीमत होती है । जिसके चित्त में समता नहीं उसे जरा–सी गर्मी आई तो घबड़ा गये, जरा–सा मान मिला तो खुश हो गये, जरा–सा अपमान हुआ तो सिकुड़ गये । जरा–सा धन मिला तो अभिमानी हो गये और जरा–सी निर्धनता आई तो घबड़ा गये । यह तो लालिया, मोतिया और कालिया की दोस्तीवाली बात हुई । नहीं... जीवन में समत्व होना चाहिये, स्थिरता होनी चाहिये । पोष–माघ की ठंडी सहने के लिए जेठ और वैशाख की गर्मी भी सहन करनी पड़ती है । रात की ठंडी पचानी हो तो दिन की धूप तुम सह लो । जो दुःख नहीं पचा सकते वे सुख भी नहीं पचा सकते । जो दुःख–सुख को पचा नहीं सकते वे ब्रह्मज्ञान को कैसे पचायेंगे ? इसलिए जीवन में समता अनिवार्य है ।

जनक राजा ने देखा कि शुकदेवजी की समता बेजोड़ है । उन्हें बुलवाया गया । ऊँचे आसन पर बिठाया और कहा –

''हे व्यासपुत्र ! कैसे आना हुआ ?''

मुनि ने कहा – ''यह जगत आडम्बर कैसे पैदा हुआ है और इससे विश्रान्ति कैसे मिले ? जन्म–जन्मांतर के, युग–युगान्तर के चक्कर से आदमी कैसे बचे ? परमात्मा का स्वभाव क्या है ? मोक्ष किसको कहते हैं ? शरीर में रहते हुए भी जो अशरीरी है, विषम मन के संकल्प विकल्प होने पर भी जो ज्यों का त्यों है, शरीर की विषम अवस्था आने पर भी जिसकी अवस्था वैसी की वैसी रहती है, वह कौन है ?''

जनक ने कहा – ''अवस्थाएँ शरीर की होती हैं, वह अशरीरी है, अवस्थाएँ मन की होती हैं, वह मन से परे है । बुद्धि की अवस्थाएँ और निर्णय बदलते हैं फिर भी उससे जो परे है, शरीर में रहते हुए भी जो अशरीरी है, विषम में रहते हुए भी जो सम है, हे मुनिकुमार ! उस समता में तो तुम स्थित हो । केवल तुम्हें सन्देह हो गया कि मुझे ज्ञान नहीं हुआ । मुझसे भगवान दूर हैं । हकीकत में तुम और भगवान दो वस्तु नहीं हो सकते । तुम और परब्रह्म परमात्मा दो नहीं हो सकते । तुम जब देह को 'मैं' मानते हो तब परमात्मा अलग है ऐसा लगता है । वास्तव में तुम अगर देह की भ्रमणा छोड़ दो, देहरूपी

रात्रि का प्रथम प्रहर भोजन, विनोद और हरिस्मरण में बिताना चाहिये । दो प्रहर आराम करना चाहिये और रात्रि का जो चौथा प्रहर है, उसमें शरीर में रहते हुए अपने अशरीरी स्वभाव का चिन्तन करके ब्रह्मानंद का खजाना पाना चाहिये ।

वस्त्र को 'मैं' मानने की भूल छोड़ दो तो तुम्हारा स्वरूप वही है। नहीं तो यक्ष की देह मिले, गंधर्व की, किन्नर की, असुर की, पत्नी की, पुत्र की, सेठ की, नौकर की, अनेक-अनेक देह मिलेगी। जिस समय जो देह मिलेगी, उस देह को यह विदेही 'मैं' मानने की गलती करता रहेगा। अपने से बड़े को देखकर सिकुड़न आती है; अपने से छोटे को देखकर अहंकार आता है; अपने से बराबरीवाले को देखकर स्पर्धा आती है और यह सब दोष तब आता है, जब देह को 'मैं' मानकर, परिवार और वस्तु को 'मेरा' मानकर सुखी रहने का यत्न करता है। वह समझो आकाश को बाँहों में भरने की बेवकूफी करता है। देह को 'मैं' मानकर, समाज की तुच्छ वस्तुओं को 'मेरी' मानकर, किसीने आज तक शाश्वत सफलता पाई नहीं। जिसे थामना है उसको जो भूल जाता है और जिसको बहने देना है उसको जो स्थिर रखने की कोशिश करता है, वह आदमी आत्महत्यारा है। जिस देह को जला देना है, जिसको स्मशान में ले जाना है उस देह के लिए दिन-रात परिश्रम करता है, भागादौड़ी करता है और जिस विदेही परमात्मा का ज्ञान पाकर सदा सदा के लिए मुक्त हो जाना है, उस ज्ञान को तो पीठ देता है। बेचारे को पता नहीं कि मैं अपना कितना अहित करता हूँ ?

हे शुकदेवजी महाराज ! तुम्हारे चित्त की समता खबर देती है कि तुम विदेही आत्मा में विश्रान्ति पा चुके हो.। यही ज्ञान है, यही समता है।''

जनक का सत्संग सुनकर शुकदेवजी के सन्देह की निवृत्ति हो गई और शुकदेवजी ज्ञातज्ञेय हुए।

देह छतां जेनी दशा वर्ते देहातीत।
ते ज्ञानीना चरणमां हो वंदन अगणित॥

देह होते हुए विदेही आत्मा में विश्रान्ति की अवस्था शुकदेवजी महाराज ने पा ली।

ऋषि कहते हैं कि :

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

वह पूर्ण परब्रह्म परमात्मा तुम्हारे हृदय में चेतना दे रहा है। उस चेतना का त्याग करके, उस चेतना को पीठ देकर जो जगत के सुखों के पीछे पड़ा है वह मानो अपने पैर पर कुल्हाड़ी मार रहा है। जो छलकपट करके नश्वर शरीर को सुखी रखना चाहते हैं उन्हें पता ही नहीं कि शरीर में होते हुए भी यह आत्मदेव अशरीरी है। जैसे घड़े में होते हुए भी घटाकाश नहीं है, वह महाकाश ही है। सुराही में होते हुए भी आकाश सुराही के बंधन में नहीं रहता। ऐसे ही तुम माई के शरीर में, भाई के शरीर में, डॉक्टर के शरीर में, मरीज़ के शरीर में दिखते हो लेकिन वास्तव में तुम यह हो नहीं। यह सब थोपा हुआ है। यह सब तुम्हारे मन की कल्पना है। तुम्हारे मन की कल्पना जहाँ से स्फुरित हुई वही वास्तव में तुम्हारी आत्मा है। तुम कल्पना का शिकार मत बनो। तुम तो संतों के प्यारे और भगवान के दुल्हारे हो ऐसी तुम्हारी आत्मा है। इसलिए भगवान कहते हैं :

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

तू मेरा अंश है, तू सनातन है। कब तक तू भ्रांति में इस सड़ीगली कोठरी में रहकर 'हूँ... हूँ...' करेगा ? 'मैं...मैं' कब तक करेगा ? ऐसा करके तो कई चले गये। जिन्होंने शरीर में होते हुए अशरीरी में 'मैं' के खूंटे गाड़ दिये, आहाहा...! वे तो धन्य हो गये लेकिन उनकी मीठी निगाहें जिन पर पड़ी, उनके मीठे वचन जिन्होंने दोहरा दिये उनके दिल भी धन्य हो गये।

समय थोड़ा है। हजारों जन्मों का काम एक जन्म में करना पड़ेगा। तुच्छ वस्तु में, तुच्छ बातों में अपने समय-शक्ति को व्यय मत करो। न जाने मौत कब पकड़ ले ? सेठ मूछ पर हाथ रखकर बुद्धू हलवाई को बोलता है - ''तू चिन्ता नहीं करना, मैं बैठा हूँ।'' हरेक बात में 'मैं बैठा हूँ... मैं बैठा हूँ' कहता था। आधे घंटे में फोन आया कि सेठ चले गये। कब तक यह 'मैं बैठा हूँ'... मैं बैठा हूँ' का दावा करेगा ? कोई भरोसा नहीं।

राजा जनक शुकदेवजी से कहते हैं कि -

''मुनिशार्दूल ! देव, गंधर्व, मानव, दानव के देह में आकर जीव अपने को 'मैं' मानने की गलती करता है, वास्तव में इसका असली स्वरूप अनंत है, असीम है। जिसमें अनन्त अनन्त लोकपाल, लोक और लोकान्तर हैं, जिसमें अनन्त अनन्त भूतप्राणी पैदा हो-होकर लीन हो जाते हैं वह तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है। तुम न शुकदेव मुनि हो, न व्यासपुत्र हो, न ब्राह्मण हो। तुम देह में होते हुए भी विदेही हो। अनन्त दानव, लोकपाल, गंधर्व, जहाँ से सत्ता-स्फूर्ति लाते हैं वह चैतन्य तुम हो। योगियों की आत्मा तुम हो। हे शुकदेव मुनि ! तुम अपने को देह मानने की गलती छोड़कर अपने वास्तविक स्वरूप को निहारो। वही सदा समस्वरूप है, उसमें स्थिर हो जाओ, तुम्हारा बेड़ा पार हो जायेगा।''

शुकदेवजी की जो जरा-सी संशय की वृत्ति थी वह जनक के उपदेश से चली गई और शुकदेवजी महाराज अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो गये। उन्होंने तो अपना काम बना लिया। आप भी संयम, सत्संग, सदाचार का सहारा लेकर अपना काम बना लीजिए, भैया !

जाग... जाग... नर ! जाग...

अवन्तिका (उज्जैन) नगरी में नागदत्त नाम का एक सेठ रहता था । धंधा खूब अच्छी तरह से चलता था । काम की कमी ही नहीं । नाम की भी कमी नहीं और बहुत सारा धन । धन में, नाम में और काम में ऐसे ही उसका आयुष्य बह गया । वृद्धावस्था में लड़का हुआ । सेठ का आनन्द अपार हो गया । धन, नाम और काम तो थे ही, पुत्र की कमी थी वह भी पूरी हो गई । फिर भी एक बात का दुःख था कि नगरसेठ की हवेली के सामने अपना मकान छोटा लगता था । सेठ ने सोचा कि सात मंजिलों की हवेली खड़ी कर दूँ और बाद में अच्छा जीवन व्यतीत करूँ ।

सेठ को मुनीम, नौकर एवं सेवक अच्छे मिल गये थे । धन काफी था । जयपुर से कारीगर बुलाये और सात मंजिलों की विशाल हवेली बनाने का आयोजन हाथ लिया । देखते ही देखते मकान तैयार हो गया । रंग-रोगान करना बाकी था । कारीगरों को सेठ सूचनाएँ दिया करते । दुकान पर भी कम जाते । क्योंकि हवेली ऐसी बनाने की थी कि सात पीढ़ी तक उसकी नींव मजबूत रहे । लोगों को भी पता चले कि सेठ नागदत्त की हवेली है । सेठ कारीगरों से कहते थे :

"देखो, सोने के वर्क लगाने हों तो लगाना लेकिन रंग-रोगान में कोई कमी मत रखना । किसी काम में जल्दबाजी मत करना । शाह और पादशाह खुश होंगे तो मुँह माँगा ईनाम दूँगा ।"

नौकर कहते : "सेठ ! हम तो अपना दिल लगाकर काम करेंगे । आप चिन्ता मत करो ।"

सेठ ने कहा : "ऐसा रंग लगाना कि सात पीढ़ी तक फीका न पड़े । ऐसा काम करना कि दूसरी कोई भी जगह पर ऐसा काम न हुआ हो ।"

अंदर ही अंदर सेठ की खुशी का ठिकाना न रहा कि इतनी बड़ी हवेली होगी । लोगों की नजरों में बस जाय कि नागदत्त का नाम ही लेते रहें । सेठ खाने का भूल जाते, सोने का समय भी भूल जाते । हवेली के पीछे पागल-से हो गये । कारीगरों को सूचन करते करते फिर मुख्य कारीगर को याद दिलाते कि : "भाई, देखना गलती न हो जाय । संगमरमर की जरूरत हो वहाँ वही लगाना । सोने की जरूरत हो वहाँ सोना ही लगाना, फिर ऐसे चित्र बनाना कि दूर दूर तक उसकी ख्याति फैले ।"

रास्ते से गुजरते हुए एक संत-महात्मा ने सेठ की यह बात सुन ली और जोर से हँस पड़े । नागदत्त सेठ ने उन्हें नमस्कार किया । सोचा कि ये संतश्री जीवन्मुक्त संत हैं । हजारों लोग इनके चरण में जाकर आत्मविश्रांति लेते हैं । ऐसे बुद्धिमान संतश्री मेरी बात सुनकर हँस पड़े । कहीं मेरी गलती हुई होगी ।

संतश्री तो अपनी मस्ती में विदा हुए । फिर नागदत्त को मन में हुआ कि कुछ जानने जैसा होगा । वे दोपहर को घर आए । पत्नी ने कहा : "कितनी देर से आते हो ? हवेली के पीछे खाना भी भूल गये ? पैसे से काम होता है, अपनी मेहनत से काम नहीं होता ।"

सेठ ने कहा : "पैसे तो देते हैं फिर भी अपनी नजर के सामने ही काम अच्छा होता है । नौकरों को कहा न जाय तो काम जैसे-तैसे होगा । सातों मंजिल हो चुकी हैं, रंग-रोगान का काम चल रहा है । संगमरमर का काम पूरा होने को आया है । सातवीं मंजिल पर हिंडोला और उसमें भी चाँदी की चेन बनाई है, सोने के कड़े लगवाये हैं और उसमें बैठकर झूला झूलेंगे । तब अपने स्वर्गीय सुख का पार नहीं रहेगा । दो साल का मुन्ना है उसके लिये चंदन का झूला बनाया है ।"

"ठीक, अब उस मकान के आनंद में भोजन का आनंद बिगड़ रहा है ।" सेठानी ने रसोई परोसी । खीर और पूरी । सेठ बात करते करते भोजन का स्वाद ले रहे थे । सेठानी ने नन्हा-मुन्ना सेठ की गोद में रखा : "लो, इसे भी खिलाओ ।"

सेठ के मन में हवेली का सुख, थाली में भोजन का सुख, गोद में लाडला नन्हा मुन्ना और मन में शेखचल्ली की कल्पनाएँ । सेठ झूले में तो झूलेंगे तब झूलेंगे, लेकिन अभी मन में काफी झूल रहे हैं । सेठ थोड़ी थोड़ी खीर लड़के के मुँह में देते हैं और खुद भी भोजन करते हैं । माया ऐसी मोहिनी है कि आदमी को पता भी नहीं चलता कि मेरा कर्त्तव्य क्या है । सेठ तो माया में फँसे हुए, क्षणिक आनंद में तन्मय होनेवाले जीव । मेढ़क साँप के मुँह में रहने के बाद भी मच्छर पकड़ता रहता है । काल के मुँह में पड़ा हुआ जीव खाने के समय भी चंचल बालक के साथ हास्य, विलास, चंचलता करता है ।

सेठ के मन में हवेली का सुख, थाली में भोजन का सुख, गोद में लाडला नन्हा मुन्ना और मन में शेखचल्ली की कल्पनाएँ ।

इतने में बालक ने पिचकारी लगाई । थोड़े छींटे थाली में गिरे । धोती गंदी हुई । सेठ ने कहा : "अरर ! मेरी थाली बिगड़ी ।"

नादान लोग मानते हैं कि हम बुद्धिमान आदमी हैं । हमको साधु-संतों का संग करने की जरूरत नहीं है । हमें इतना समय भी नहीं मिलता ।

सेठानी ने कहा : "उसमें क्या हो गया ? यह तो निर्दोष बालक है । खीर में तो नहीं गिरी होगी ।" सेठानी ने एक दो पूरी इधर-उधर कर दी ।

सेठ पिचकारी से अनजाने थे, छींटेवाली खीर खा ली । धोती भीग गई तो कोई बात नहीं । इतने में वे संतश्री आ गये और यह दृश्य अपनी आँखों से देखा । संतश्री ने कहा : "नारायण हरि ।"

साधु को भिक्षा मिली । उन्होंने उस दृश्य को देखा था इसलिये फिर से हँसे । सेठ को तुरन्त याद आया कि सुबह संतश्री हँसे थे हवेली के काम से और अभी फिर से हँसे । आत्मविश्रांति पाये हुए, आत्मशांति का दान करनेवाले ऐसे ज्ञानी पुरुष मेरी चेष्टा पर हँस रहे हैं । मानो न मानो जरूर कोई रहस्य है । मुझे समय निकालकर उनके पास जाना चाहिए । लोग तो जाते ही हैं । उनके पास समय है । मैं इतना कामवाला आदमी, इतना बड़ा विद्वान आदमी होकर एक फ़कीर के पास बेठा रहूँ यह ठीक नहीं ।

नादान लोग मानते हैं कि हम बुद्धिमान आदमी हैं । हमको साधु-संतों का संग करने की जरूरत नहीं है । हमें इतना समय भी नहीं मिलता । हकीकत में यह तो बुद्धि की कमी है ।

शतं विहाय भोक्तव्यं सहस्रं स्नानमाचरेत् ।
लक्षं विहाय दातव्यं कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत् ॥

सौ काम छोड़कर भोजन कर लेना चाहिये । हजार काम छोड़कर स्नान कर लेना चाहिए । लाख काम छोड़कर दान कर लेना चाहिए और करोड़ काम छोड़कर हरि का स्मरण करना चाहिए, अपनी आत्मा का उद्धार कर लेना चाहिए ।

भरे बाजार में स्थित सेठ की दुकान में मुनिमों-मेहताओं सब वहीखाते इधर-उधर करते जाते और काम करते जाते । सेठ आये और दुकान की गद्दी पर बैठे । इतने में एक बकरा कसाई के हाथ से भागा और दुकान में आ गया । थर थर काँप रहा था बेचारा । सेठ को दया आयी । वे कसाई से बोले : "एक मुद्रा दूँगा, इसको छोड़ दे ।"

कसाई बोला : "नहीं सेठ, आप व्यापारी हैं तो मैं भी व्यापारी हूँ । इसे मैं अभी काटूँगा तो पाँच मुद्रा मिलेगी । एक मुद्रा लेकर मैं इसे नहीं छोड़ सकता ।"

लोभी सेठ का दिमाग गिनती करने लगा : "रोज ऐसी पाँच-पाँच मुद्रा दें तो जमेगा नहीं । और कसाई कहाँ अपना धंधा बदलनेवाला है ? इसको छोड़ेगा तो दूसरे को काटेगा ।"

सेठ ने बकरा कसाई को सौंप दिया :

"भाई, ले जा । तू जाने और तेरा धंधा जाने ।"

इतने में वे महात्मा वहाँ आये और जोर से हँसने लगे । सेठ ने कहा : "बाबाजी ! तीसरी बार आपके दर्शन हुए हैं । आज शाम को सत्संग में जरूर मिलूँगा । मुझे आप के साथ मेरे सवालों के जवाब के लिये एकांत कोटड़ी में, आपकी शरण में बैठना है ।"

बाबाजी ने कहा : "नसीब होगा तो आओगे और बैठोगे, सत्संग सुनोगे, अन्यथा तो आने के बाद भी ठहर नहीं सकोगे । ठहरने के बाद भी सुन नहीं सकोगे । नसीब होगा तो आत्मा जाग्रत होगी । दैव की लीला अजीब है ।"

नागदत्त सेठ को जैसे आहवान मिल गया ।

शाम हुई और कथा पूर्ण होने से पहले वे पहुँचे । दो शब्द सुने नहीं सुने । उन्हें बाबाजी क्यों हँसे थे यह सवाल पूछना था । कथा के बाद संत अपने चित्त को चैतन्य परमात्मा में विश्रान्ति दे रहे थे । 'सर्वोऽहं... शिवोऽहं... के स्वभाव में मस्त बने हुए संत के चरणों में जाकर नागदत्त सेठ ने प्रणाम किया :

"बाबाजी ! सुबह हवेली पर मैं नोकरों को समझा रहा था उस समय आप हँसे, दोपहर को मैं खाना खा रहा था उस समय आप भिक्षा लेने के लिये पधारे और तब भी हँसे । बाबाजी ! आप कृपा करके इसका कारण बताइये । आप जैसे जीवन्मुक्त आदमी हँसे तो जरूर कोई रहस्य होगा ।"

बाबाजी बोले : "रहस्य तो बहुत है पर सब कुछ कहा नहीं जा सकता । यह रहस्य बहुत अटपटा था इसलिये मुझे हँसी आ गई ।"

सेठ बोले : "कृपा करो ।"

बाबाजी बोले : "सुनने में आनन्द नहीं आयेगा । तुम्हारे आनन्द को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा लेकिन तुम्हारे विवेक को प्रोत्साहन मिलेगा । तुम्हारी खुशामद करने का काम हमसे नहीं होगा । लेकिन तुम्हारी भ्रान्ति की

निवृत्ति का काम शायद हो जाएगा । फिर भी इसे सुनने के लिये हिम्मत चाहिए ।''

सेठ बोले : ''बाबाजी ! अब तो कृपा करके इस दास को यह रहस्य बता दो ।''

उसके बाद महात्मा ने बात का प्रारंभ किया । जो महात्मा अपने स्वरूप में, निष्कपट, निर्दोष, नारायण स्वरूप में जागे हों उन महापुरुषों के आगे प्रकृति के रहस्य खुल्ले हो जाते हैं । वे दूसरों के भविष्य भी पढ़ सकते हैं । दूसरों की आयु भी देख सकते हैं ।

महात्मा बोले : ''देखो नागदत्त ! तुमने नौकरों से कहा कि सात सात पीढ़ी तक रंग न जाय, फिक्का न पड़े और हवेली का नाम बना रहे ऐसा काम करना । लेकिन आपको मालूम नहीं है कि सातवें दिन आपका देहांत होनेवाला है ।''

सेठ तो अवाक् रह गये !

''बाबाजी ! क्या कह रहे हैं आप ?''

''इसलिये तो मैंने कहा था कि सुनने जैसा नहीं है।''

''सातवें ही दिन मेरी मौत !''

''हाँ, सातवें ही दिन ।''

''बाबाजी ! मेरी मौत कैसे होगी ?''

''कुदरत कोई भी निमित्त खड़ा करेगी और तुम्हारी मौत होगी । सिरदर्द में तुम्हारी मौत होगी ।''

सेठ तो व्याकुल हो गये । मानो पाँव के नीचे से जमीन सरकने लगी । शरीर का खून सूखने लगा । सारा जग उनके लिये अंधारपट-सा हो गया ।

''बाबाजी ! दोपहर को मैं खाना खाने बैठा था और मुन्ने ने पिचकारी लगायी उस समय आपने 'नारायण हरि' का मधुर उच्चारण किया और आपसे हँसी निकल गई इसका क्या कारण ?''

''जिस बालक को प्यार से गोद में लेकर खीर खिला रहे थे, जिसकी लगाई हुई पिचकारी भी आप मधुरता से खा रहे छे वही लड़का तुम्हारा पिछले जन्म का शत्रु है । तुम बोल रहे हो कि सात पीढ़ी तक तुम्हारा नाम रहेगा लेकिन यह लड़का बदमाश होगा, दुराचारी होगा, सट्टा खेलेगा, तुम्हारा नाम डूबो देगा । हवेली बेच डालेगा और सब कुछ इधर-उधर कर देगा । जिसे आज तुम प्यार कर रहे हो वही तुम्हारे मरने के बाद तुम्हारी पत्नी को विष देकर मार डालेगा । इसलिये मुझे हँसी आ गई कि यह जीव बेचारा कैसी माया की भूलभुलैया में फँसा हुआ है !''

सेठ बोला : ''बाबाजी ! मेरा लड़का मेरा दुश्मन कैसे ?''

''अगले जन्म में वह तुम्हारी पत्नी के साथ एकांत में विलास करता था । तुमको क्रोध आया था और तुमने उसकी हत्या कर दी थी । इसका बदला लेने के लिए यह तुम्हारा बना-बनाया सब कुछ चौपट कर देगा यह निश्चित है ।

चार प्रकार के पुत्र होते हैं : लेनदार पुत्र, शत्रु पुत्र, उदासीन पुत्र और सेवक पुत्र । माया की भूलभुलैया अजीब है । 'यह मेरा लड़का और यह मेरी लड़की...' फिर, लड़का बड़ा होने के बाद मालूम होता है कि कोई लेनेवाला आया था और ले गया । कोई सेवाभावी पुत्र सेवा करता है तो पुत्र में आसक्ति पैदा होती है । दुःख दे तो तिरस्कार और द्वेष का बंधन होता है । ये राग-द्वेष सब कुत्ते के स्वभाव जैसे हैं ।

कबीरा कुत्ते की दोस्ती दो बाजू जंजाल ।
रीझे तो मुख चाटे, खीजे तो पैर काटे ॥

आसक्ति और राग से बन्धन होता है । प्राण छूटते समय बच्चों की चिन्ता होती है कि, 'उनका क्या होगा ? मुन्ने का क्या होगा ? मुन्ने की बहू का क्या होगा ? इनको और ज्यादा कुछ दे जाऊँ । इनका कल्याण करके जाऊँ ।'

पुत्र सेवा नहीं करता है तो मन खिन्न होता है और खिन्नता से पापियों के लोक में जाना पड़ता है । आसक्ति करते करते प्राण छूटते हैं तो पुनः माता के गर्भ में उल्टा होकर लटकना पड़ता है, फिर वहीं जन्म लेना पड़ता है ।

जब तक भगवान के लिए प्रीति नहीं होती, सत्संग में रुचि नहीं होती तब तक जीव मन के चक्कर से छूट नहीं सकता । मन ही माया है । चैतन्य सत्ता में स्फुरण रूप जो मन है वही ईश्वर की माया है ।

भागवत में आया है और आद्य शंकराचार्यजी ने भी कहा है कि अविद्या और माया मन से अलग नहीं है । सब कुछ मन में ही स्थित है । 'मेरा बेटा... मेरा मकान... मैं ऐसा करूँगा तो सुखी बनूँगा... इतना करूँगा तो सुखी बनूँगा... इतना कर लूँ फिर आराम...' लेकिन सात दिन में तो ऐसा आराम आयेगा कि तुम्हारे सब स्वप्न अपूर्ण रह जाएँगे ।''

सेठ ने कहा : ''बाबाजी ! अब कृपा करके तीसरा प्रसंग बताएँ कि मैंने जब बकरे का कान पकड़कर कसाई को दिया तब आप हँस पड़े । इसमें क्या रहस्य है ?''

बाबाजी ने कहा : ''वह बकरा तुम्हारे गत जन्म में तुम्हारा पिता था । कैसे भी करके कसाई के हाथ से छूटकर तुम्हारी दुकान में आ गया, इस आशा से कि

मेरा बेटा मुझे छुड़ाएगा । लेकिन लोभी का मन पाँच मुद्रा में अटक गया । पिता के लिए पाँच मुद्रा भी नहीं दे पाया । बकरा कसाई के हाथों में गया ।''

''बाबाजी ! अब उनका उद्धार कैसे होगा ?''

''उसकी तो कत्ल हो गई । वह त्राहिमाम् कहता हुआ दुःखद योनि में गया । क्रूरता से मृत्यु होती है तो जीव अधम गति को प्राप्त होता है । अब पिता को बचाना तुम्हारे बस की बात नहीं रही । अब केवल अपने लिए सात दिन तुम्हारे हाथ में हैं ।''

''बाबाजी ! मैं केवल सात दिन में अपने लिए क्या कर सकता हूँ ?''

सेठ की आँखों से अश्रुधारा बहने लगी । हाथ–पैर थर–थर काँपने लगे । चित्त चक्कर चक्कर घूमने लगा। चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखने लगा :

''जिस धन के लिए पूरा जीवन खर्च डाला वह धन यहीं पड़ा रह जाएगा ? सात सात मंजिलोंवाला मकान बनवाया वह यहीं छोड़कर जाना पड़ेगा ? इतने सारे वस्त्राभूषण इकट्ठे किये वे एक ही झटके में पराये हो जाएँगे ? जिसके मुँह में खीर के कौर दिये वह नन्हा–मुन्ना मेरी इज्जत का नीलाम करके सात पीढ़ियों को कलंकित करेगा ?...और सात ही दिन के बाद मेरी मृत्यु होगी ? अरेरे... बाबाजी ! कोई उपाय है बचने का ?''

''बेटा ! मौत से बचने का तो कोई उपाय नहीं है किन्तु दुष्कृत्यों से बचकर, सत्कर्म करके, बार–बार फिर कभी मौत न हो ऐसा, आत्मदेव को रिझाने का उपाय है ।''

''बाबाजी ! सात दिन में मैं क्या कर सकता हूँ ?''

''तू संकल्प करे तो बाजी बदल सकती है । चित्त में त्याग और विवेक–वैराग्य का आश्रय ले । संयमी और सादा जीवन जीने लग जा । सात दिन तक सतत जाप कर । सिरदर्द तो होगा लेकिन दर्द के साथ तादात्म्य नहीं करना । दर्द जिससे महसूस होता है उस मन के साथ मिल मत जाना । लेकिन मन भी जिसके द्वारा जाना जाता है उस अन्तर्यामी परमात्मा में विश्रान्ति पाने की कला मैं तुझे देता हूँ । इसमें अगर तू अडिग बन गया तो सिरदर्द के निमित्त से मृत्यु तो होगी लेकिन तू उससे निर्लेप रहेगा । सात पीढ़ियों तक नाम ऊँचा रहे या नीचा रहे लेकिन नाम जिससे स्फुरित होता है, जिसकी सत्ता से नाम स्थित रहता है और जिसके नाम से शान्ति प्राप्त होती है उस अनन्य आत्मा में तू पहुँच जा । तेरा बेड़ा पार हो जाएगा । तेरा तो बेड़ा पार होगा ही लेकिन नागदत्त सेठ ! तेरी कथा से अन्य जीवों का जीवन भी सन्मार्ग के प्रति अभिमुख होगा ।''

सेठ को बात जँच गई । कुछ पुण्य थे । सेठ बाबाजी को साष्टांग दंडवत् प्रणाम करके दो पाँच मिनट चरणों में ही पड़े रहे । उनका अहंकार घुलने लगा । जीवन्मुक्त ब्रह्मवेत्ता की दृष्टि उन पर पड़ती रही । उनके मस्तिष्क के ज्ञानतन्तुओं के कपाट खुले ।

सेठ घर पहुँचे । अपने ही हाथों से अपनी सम्पत्ति को सत्कर्म में लगाने लगे । चार ही दिनों में ७५ प्रतिशत सम्पत्ति जहाँ जहाँ सत्कार्य चलते थे वहाँ लगा दी । मरने के बाद संपत्ति को कोई गलत मार्ग में उड़ा दे उससे तो अपने हाथों से ही सत्कर्म के द्वारा अपना हृदय शीतल कर लेना बेहतर है ।

सेठ ने सात दिन तक सत्य व्रत का पालन किया । सुबह में जल्दी उठकर निर्णय करते कि आज के दिन मैं मौन रहूँगा । मृत्यु का ग्रास बन जाऊँ उसके पहले मैं अमर आत्मा का ध्यान करूँगा । हे प्रभु ! तू मुझे असत्य आसक्तियों से बचाकर सत्य की ओर ले जाना । अन्धकारपूर्ण ममता से मुझे हटा लेना। हे देव ! तूने ही लीला की और मुझे साधु का संग मिल गया । संतश्री ने आकर मुझे जगाया । हे देव ! इसमें भी तेरी कृपा है । तू मुझे जगाना चाहता है । तेरी माया में सोते हुए तो युग बीत गये ।

एवो दि' देखाड़ वहाला एवो दि' उगाड़ ।
देखुं तारुं रूप बधे एवो दि' देखाड़ ॥
जुग जूनां बंध नयनां कांई तो सूझाड़ वहाला !
देखुं तारुं रूप बधे एवो दि' देखाड़ ॥

इस प्रकार प्रार्थना करते करते सेठ का हृदय निष्पाप होने लगा । दिनभर मौन रखने लगे, प्रार्थना करने लगे, जप–ध्यान करने लगे । ऐसा करते करते जब सातवाँ दिन आया तब प्रारब्धवेग से सिरदर्द होने लगा । सेठ के चित्त में सत्संग का ज्ञान था कि :

'सिरदर्द का निमित्त लेकर प्राण छूटेंगे । प्राण तो कोई भी निमित्त लेकर छूटेंगे ही । लेकिन देह एवं प्राणों को चलानेवाला जीवात्मा है और जीवात्मा का अधिष्ठान आत्मा–परमात्मा है । उस आत्मा–परमात्मा का कभी वियोग नहीं होता । शरीर तो किसीका सदा के लिए रहा नहीं और मुझ आत्मा की कभी मृत्यु हुई नहीं ।'

ऐसे सुन्दर सत्संग के संस्कारों ने नागदत्त सेठ की आखिरी घड़ियों में रक्षा की । सत्संग के प्रभाव से उनकी सद्गति हुई । सत्य स्वरूप परमात्मा के स्मरण, ध्यान और ज्ञान से आखिरी दिनों में उनका जीवन भी सुधर गया और मौत भी सुधर गई । ❁

अनोखा आतिथ्य

परमहंस कोटि के एक संत रात्रि के समय किसी गाँव में जा पहुँचे । एक बड़ा बंगला था । उसके बाहर गैरेज जैसी पडाली का हिस्सा था । पहरेगिर पहरे पर खड़ा था । गंदे कपड़ों में दरिद्री जैसे दिखते हुए परमहंस संत आकर उस चपरासी से कहते हैं –

''भाई ! बारिश के दिन हैं । चारों ओर कीचड़ ही कीचड़ है । मुझे आपकी इस पडाली में रातभर के लिए विश्रांति करने दोगे ?''

''जा, जा, गंदे ! इधर कैसे आया ?''

इतने में सेठ की घोड़ाबग्गी आकर खड़ी रही । उतरकर सेठ बोले – ''कौन मनुष्य है ? भगा दो यहाँ से । इसके कपड़ों से दुर्गंध आ रही है ।''

पहरेगिर बोला – ''रात में यहाँ पड़ा रहना चाहता था । मैंने मना किया, इतने में आप आ गये ।''

सेठ बोले – ''नहीं, नहीं, यह कोई भिखारीखाना है ? भगा दो इस भिखारी को ।''

सेठ का बंगला जिस जगह था उसके सामने एक खुल्ला मैदान था । कोई बेचारे गरीब लोहार ने मिट्टी से कच्ची झोंपड़ी बनाई थी । उसकी आर्थिक स्थिति ऐसी थी कि वह दरवाजे नहीं बना सका था । दिन में कुछ पैसे कमाता, शाम को अपने दो बालक और पत्नी सहित भोजन लेता और शेष पांच–पच्चीस पैसे बचे उनसे अतिथि साधु–संत जो आवें उनको प्रेमपूर्वक भोजन कराके उनकी सेवा–चाकरी में लगा देता।

उस सेठ के दुत्कारने पर परमहंस ने देखा कि सामने मैदान में एक झोंपड़ी है । फटे कपड़ों में वह भिक्षुक वेशधारी – विश्व का सम्राट उस झोंपड़ी के सम्मुख जाकर बोला :

''भाई ! मुझे खाना–पीना तो है नहीं, केवल रात्रि में चार घण्टे आराम करना है । तुम्हें तकलीफ न हो तो तुम्हारी इस झोंपड़ी के आगे कहीं पड़ा रहूँगा ।''

''हाँ... हाँ... हाँ... महाराज !'' कहते हुए छलांग लगाकर लोहार एकदम खड़ा हो गया । बड़ी मिन्नतें करके जैसी–तैसी टूटी फूटी खाट पर घर में जो अच्छे से अच्छा बिछौना था वही बिछाकर बोला :

''बाबाजी ! इस पर आराम कीजिये ।''

संत बोले : ''नहीं भाई ! मैं तो जमीन पर ही पड़ा रहूँगा ।''

''नहीं, बाबाजी ! कृपा कीजिये ।''

किसी भी प्रकार समझाकर खाट पर बिछौना लगा दिया । उसका यह बिछौना भी कैसा – कंतान की गुदड़ी, चींथडों की रजाई, परंतु परमहंस संत को चींथडों और मखमल से क्या लेना–देना, शुद्ध और अशुद्ध से क्या वास्ता ? इस लोहार के कोई पुण्यों का उदय हुआ होगा । हजारों अतिथियों की सेवा के पुण्यों के फलस्वरूप ब्रह्मवेत्ता संत की सेवा मिली । उसके आनंद और शांति का पार नहीं था । वैसे तो निद्रा का समय था, पर संत के सान्निध्य में रात्रि मानो योगनिद्रा में ही समाप्त हुई । प्रभात हुआ।

बाबाजी बोले : ''अच्छा, भाई ! तुम्हें धन्यवाद ।''

''बाबाजी ! मेरी तो खाट पावन हो गई । आज मैं धन्य हो गया ! मैं आपको छोड़ने आऊँगा ।''

''नहीं भाई ! नहीं, मैं चला जाऊँगा... और चिन्ता न कर, मैं वापस नहीं आऊँगा ।''

''नहीं, नहीं बाबाजी ! आपने रात्रि–विश्राम लिया और मुझे सेवा का लाभ दिया । आज मुझे हृदय में शान्ति और आनंद का जो अनुभव हुआ है वैसा अपने जीवन में कभी नहीं हुआ । बाबाजी ! घर पर जो मेहमान आता है उसे भी छोड़ने जाते हैं । जब आपके सान्निध्य में तो अपार शांति मिली है । बाबाजी ! कृपया मुझे छोड़ने आने की अनुमति दीजिये ।''

''चल भाई, चल !''

थोड़ा चलने पर संत ने कहा : ''अब लौट जा ।''

''नहीं, नहीं, भगवन् ! अभी कुछ चलने दो ।''

''भाई ! तूने मुझे आराम करने का स्थान दिया । तुझे कुछ मांगना हो तो मांग ले, बस !''

''नहीं बाबाजी ! मुझे कुछ नहीं चाहिए ।''

''तो फिर लौट जा ।''

''बाबाजी ! इतना ही माँगना है कि आप 'लौट जा' न कहें ।''

थोड़ा और चलने पर संत ने कहा – ''भाई ! अब सूर्योदय होने की तैयारी है । हम ब्राह्ममुहूर्त में चले थे। तीन–चार बजे थे, अब करीब छः बजने की तैयारी है। तुम कितनी दूर चले आये हो ? फिर वापस घर लौटते लौटते समय तो लगेगा ही ? अभी छः बजे होंगे, तो जाते जाते आठ बज जाएंगे । इसलिए कुछ मांग ले और लौट जा । तेरी श्रद्धा और भक्ति से मैं बहुत प्रसन्न हूँ, तू कुछ मांग ले ।''

''बाबाजी, मुझे कुछ नहीं मांगना ।''

''नहीं, नहीं, कुछ तो मांग ।''

लोहार बोला – ''नहीं ।''

''देख, मैं तुझे कुछ नहीं दूँगा परंतु मान ले तू अगर माँगना चाहे तो क्या चीज माँगेगा ? इतना बता दे ।''

''बाबाजी ! मैं अगर माँगू तो यह माँगूंगा कि मेरे गाँव में आनेवाला कोई अतिथि कभी दुःखी न हो । कभी भूखा न रहे ।''

संत ने उस पर एक दृष्टि की और बोले – ''अब, वापस लौट जा ।''

वह लोहार चलते चलते अपने गाँव वापस लौटा । वह घर पहुँचे उससे पहले जो बंगलानिवासी सेठ था वह प्रातः आँखें मलता हुआ उठा । सामने मैदान पर नजर पड़ी। देखा तो एक बड़ा महल खड़ा है । यह क्या ? आँखों में कोई जाली–बाली तो नहीं लगी? वेल–बेल तो नहीं उगी ? फिर से आँखें मलकर देखा, सामने सुंदर दिव्य महल खड़ा है । मुँह धोकर पत्नी को जगाया । बोला –

''देख, देख यह सामने मैदान पर क्या दिखाई पड़ता है ?''

पत्नी बोली – ''अरे, यह तो बड़ा विशाल भवन खड़ा है ! इसके सामने अपना बंगला तो कोई बिसात में नहीं ! विचित्र कारीगरीवाला भवन है !''

''मगर यह रातो–रात कहाँ से आ गया ?''

''पता नहीं ।''

सेठ और उसकी पत्नी थोड़े बाहर आये, ध्यान से बराबर देखा । सेठ ने पत्नी से कहा –

''तुम यहाँ ठहरो । मैं जरा देख आता हूँ ।''

सेठ जब भवन के नजदीक पहुँचे तो अंदर से दरवान बोला – ''ऐ गंदे कपड़ेवाले ! दूर रहना, आया है बड़ा देखनेवाला । बाहर रह, बाहर रह ।''

सेठ ने सोचा – ऐसा मैंने कल किसीसे कहा था । मैंने और मेरे नौकर ने किसीका अपमान किया था और आज मुझे वे ही शब्द सुनने को मिलते हैं । यह क्या होगा ? इतने में तो वह लोहार वापस लौट आया । फटे कपड़ों में ही था वह ।

सेठ बोले – ''भाई ! यह भवन कैसे बन गया ?''

वह लोहार बोला – ''मुझे क्या पता था कि फटे चींथरे पहने हुए वे अतिथि कोई सिद्ध–पुरुष होंगे... कोई परमहंस होंगे... यह तो मेरी झोंपड़ी खो गई । ...और मुझे कब महल की जरूरत थी ? मैं सादा जीवन जीने वाला, परिश्रम से कमाकर दो रोटी खाता था और साधु संतों की सेवा करता था । अब ऐसा महल देख मेरे यहाँ कौन आएगा ? मुझे क्या पता था कि वे मुझे मुसीबत में डाल देंगे ? मैंनें तो बहुत मना किया पर वे बाबाजी बोले –

''तू अपने लिए नहीं, परंतु अगर किसीके लिए मांगे तो क्या मांगे ?'' तो मैंने कहा – गाँव में आया अतिथि कभी भूखा न रहे और उसे कोई तकलीफ न हो । ऐसा मैं माँगू। मुझे क्या पता था कि वे महात्मा रिद्धि–सिद्धि के स्वामी हैं ? विश्वनियंता के साथ एकरूप बने उन योगी ने तो मुझे मुसीबत में फँसा दिया । अरेरे... मेरे तो झोंपड़ी ही अच्छी थी ।''

इतने में तो उसकी आवाज सुनकर भीतर से आकर उसकी पत्नी बोली – ''पधारिये ।''

''अरे ! तू भी बदल गई ! मकान भी बदल गया!''

पत्नी बोली – ''यह शरीर के वस्त्राभूषण बदले, मकान भी बदला परन्तु तुम्हारे गुरुजी तो कहते थे कि आत्मदेव तो वही है । चलो, उन्हीं की इच्छा से इस महल में रहें ।''

सेठ को लगा कि – अरेरे मैंने तो मौका खो दिया। लोहार से पूछा :

''वे बाबाजी कहाँ तक पहुँचे होंगे ?''

''वे बाबाजी तो बड़े सवेरे चार बजे चले थे । चलते चलते उन्होंने मुझे तो जबरदस्ती वापस लौटाया ।''

सेठ तुर्त ही घोड़ागाड़ी से घोड़े को छोड़कर उस पर सवार हो भागते घोड़े पीछे दौड़े । पदानुसरण करते करते घोड़ा आखिर उनके निकट पहुँच ही गया । दूर ही घोड़े को खड़ा कर उतरकर सेठ जूते निकाल संत के पास जाने लगे ।

''मैं आपकी गौ हूँ । बाबाजी ! मुझे क्षमा करें । मैंने आपको पहचाना नहीं । मैं आपके बाहरी गंदे वेश के कारण भीतर की दिव्यता को जान न सका ।''

''भाई ! दूर हट, मुझे तेरी सुगन्धी की दुर्गन्ध आती है । दूर जा, मुझे तेरे सेठपने की भी गंध आती है । हम तो भिखारी हैं ।''

''नहीं, नहीं, बाबाजी ! मुझे क्षमा करें, क्षमा करें।''

''जा भाई ! तेरा मार्ग अलग, हमारा अलग, हम तो भिखारी लोग – दरिद्र लोग । हमारे पास कोई इन्द्रियों के भोग, गाड़ी, नौकर है नहीं ।''

''बाबाजी ! आप जहाँ पदार्पण करते हैं वहाँ महान, सुंदर, पवित्र आत्माएं बिना वेतन के सेवा में उपस्थित रहती हैं । मैं अभागा, आपकी सेवा न कर सका यह मेरी त्रुटि थी । अब मुझे क्षमा करो, क्षमा करो प्रभु !''

''ठीक है। अब तुम जाओ । क्या दया और क्या

(अनु. पेज १२ पर...)

सत्गुरु मेरा सूरमा......

शिबली नाम के सूफी फकीर थे । उनके चित्त की समता कुछ जम रही थी । ज्यों समता बनती है त्यों स्वाभाविक ही सद्गुण आने लगते हैं । घूमते–घामते यात्रा करते हुए... गुरु ने बताया था वहाँ ध्यान–भजन करते हुए कुछ दिन बीते । गुरुपूनम आई तो शिबली गुरु के आश्रम में गये । गुरु के आश्रम में तो कई गुरुभाई और सत्संगी श्रोता थे । उन्होंने शिबली को देखा । शिबली को देखते ही वे उसका आदर करने लगे :

''अरे ! तुम बहुत दिनों के बाद दिखे ! तुम्हारी आँखों से तो इतनी शांति टपकती है कि मानो बस, साक्षात् बृहस्पति की आँखें हैं । तुम्हारा चेहरा देखकर हमें योगी होने की इच्छा होती है ।''

किसीने किसी ढंग से, किसीने किसी ढंग से उसकी प्रशंसा की । शिबली के गुरु सुन रहे थे अंदर के कमरे में । वे बाहर आये । भक्तों की भीड़ के सामने शिबली को बुरी तरह डाँट दिया और लोगों से कहा –

तुम्हारी आँखों से तो इतनी शान्ति टपकती है कि मानो साक्षात् बृहस्पति की आँखें हैं। तुम्हारा चेहरा देखकर हमें योगी होने की इच्छा होती है।

''इस नालायक को भगाओ । मेरी आँखों से दूर कर दो । यह दुष्ट मेरे सामने नहीं आना चाहिये । गुरुपूनम जैसे पर्व के दिन; उत्सव के दिन यह दुष्ट आ गया ! उसको भगा दो ।''

कुछ लोगों ने देखा कि महाराज की अंदर की वृत्ति है कि इसका मान होने लगा है और मेरा नहीं होता । महाराज ने अपने अंतःकरण की दुषितता शब्दों के द्वारा प्रकट करके दिखाई है । सर्वत्र काना–फूसी होने लगी । शिबली शांत भाव से चला गया । कुछ निकटवर्ती भक्तों ने कहा :

''गुरु महाराज ! शिबली ने तो कोई कसूर नहीं किया था और शिबली को आपने ऐसा डाँटा ! बहुत दिनों के बाद आया था । आपकी आज्ञा पाकर ही तो एकान्त में गया था । चेहरे पर बड़ा तेज था, बड़ी शान्ति थी । बहुत कुछ योग्यता हांसिल करके आया है ऐसा लगता था । शिबली को आपने क्यों डाँटा ? हे कृपानाथ ! शिबली का क्या कसूर था ?''

गुरुदेव बोले – ''शिबली का कसूर नहीं था, कसूर इन कमबख्तों का था । शिबली अभी सत्य को उपलब्ध नहीं हुआ, वह सत्य से अभी दूर है । चेहरे पर चमक तो आई है मगर जब तक सत्य तक नहीं पहुँचा तब तक यह चमक कोई दूसरे रास्ते पर भी ले जा सकती है । जब आदमी अपनी प्रशंसा सुनता है, उसे स्वीकार करता है तो उसके सद्गुण कुंठित हो जाते हैं, उसकी योग्यता कुंठित हो जाती है ।

वृंदावन में एक बहरा बाबा रहते थे । एकबार कोई मक्खी जाले में फँस गई और गुनगुनाने लगी । बहरा बाबा कहने लगे :

''तू समझती है कि सब जगह माल खाने को तैयार है । यहाँ तो तुझे फँसना था, फँस गई । अब क्या गुनगुनाती है ?''

भक्तों ने सोचा कि बहरे बाबा ने गुनगुनाने की आवाज कैसे सुनी ? वे बोले : ''महाराज ! आप तो बहरे थे । आपको सब बहरा बाबा कहते हैं और यह मक्खी का गुनगुनाना आपने कैसे सुना ?''

बाबा बोले ''भाई ! मैं तो जान–बुझकर बहरा बना था । किसी की निंदा स्तुति, किसीकी ऐसी वैसी बातें, सुनकर राग–द्वेष उत्पन्न न हो और मेरा चित्त समता के सिंहासन से गिर न जाय इस कारण से मैं बहरे जैसा जान–बुझकर बन गया । दूसरा फायदा यह रहा कि अगर मैं सुननेवाला होता तो सबकी छोटी–मोटी, खरी–खोटी बातें सुननी पड़ती, फिर कभी हाँ कहने की रुचि न होते हुए भी लोगों को राज़ी रखने के लिए हाँ कहना पड़ता । किसीको ना बोलते तो दुःख होता । किसीको रिझाने में और वैसे हजारों को रिझाने में मैं पड़ता तो अन्तर्यामी को कब रिझाता ?

तीसरी बात : बहरा बनने से मुझे यह लाभ हुआ कि लोगों ने मुझे जब बहरा समझा तो जिसको जो सुनाना था वह सुना देता था, मेरी गलती की बात भी मेरे सामने कर देते थे । मैं समझ जाता था कि मुझमें यह दोष है, ये ये मेरी गलतियाँ हैं, तो मैं उन गलतियों को निकालने को तत्पर हो जाता था । अगर मैं ठीक से चतुर होकर रहता तो लोग मेरे आगे तो मेरी प्रशंसा करते और मन में मेरी गलती दुहराते । जैसे नेताओं को रिझा दिया जाता है, ऐसे ही लोग हम लोगों को रिझा देते। हम अपनी गलती न सुनते और गलती निकालने का मौका नहीं मिलता । जब केवल प्रशंसा ही सुनते जाते तो परिच्छिन्न व्यक्तित्व में दृढ़ता हो जाती । इसलिए मैंने बहरा बनने का स्वांग किया जिससे मैं दोष निकालता जाऊँ और गुण भरता जाऊँ । फलतः मैं निर्दोष हो जाऊँ ।''

आत्मिक प्रेम

फ्रान्स का ओनार्ड नामक एक यात्री । उसे यात्रा का बड़ा शौक था । सुना था कि भारत में महान विभूतियाँ रहती हैं । भारत के साधुसंतों, योगियों, तपस्वियों के दर्शन करने के लिए ओनार्ड अपनी कार लेकर फ्रान्स से निकला भारत की यात्रा पर । बीच में एक रात्रि वह स्वीट्झर्लैन्ड में ठहरा । अकस्मात् दो महिलाओं से उसकी भेंट हुई । बातचीत के दौरान उसे पता चला कि वे महिलाएँ भारत जाकर आई थीं । अतः उसने पूछा :

''भारत में आपको ऐसे कोई महान संत मिले जिनमें भारतीय संस्कृति का दर्शन हो सके ? जिनके सान्निध्य में भारतीय ब्रह्मविद्या का पवित्र प्रसाद हम पा सकें ?''

तब उन महिलाओं ने कहा :

''हाँ... भारत में एक महिला है, आनन्दमयी माँ । क्षुद्र जगत की तमाम सीमाओं से परे पहुँची हुई, आत्मा–परमात्मा में जागी हुई, अपनी योग्यताओं को पूर्ण रूप से विकसित कर चुकनेवाली वह महान नारी है ।''

ओनार्ड मूलतः तो पश्चीमी विश्व का जीव ठहरा । उसे कोई विशेष आदर भाव नहीं जगा, खास कोई आकर्षण नहीं हुआ । स्त्री और इतनी महान !

भारत में आकर ओनार्ड स्वामी शिवानन्दजी के आश्रम में पहुँचा । शिवानन्दजी महाराज से बातचीत के दौरान उसने पूछा :

''स्वामीजी ! इस समय भारत में आपकी दृष्टि में ऐसे कोई संत हैं जिनकी योग्यताओं का पूर्ण रूप से विकास हुआ हो ? ऐसे कोई महान संत विद्यमान हैं जिनके पास बैठने पर हमें शान्ति मिले, हमारे आध्यात्मिक प्रश्नों के समाधान मिलने लगे ?''

शिवानन्दजी ने कहा : ''हाँ, ऐसे एक संत हैं और वे हैं आनन्दमयी माँ । भारत के तमाम संतों रूपी पुष्पों में वे एक ऐसा पुष्प है जो पूर्ण रूप से विकसित हुआ है और पूर्ण सुवास फैला सकता है । वे हैं आनन्दमयी माँ ।''

सुनकर ओनार्ड तो दंग रह गया । उन महिलाओं ने भी आनन्दमयी माँ की प्रशंसा की थी और शिवानन्दजी महाराज भी यही कह रहे हैं । अब ओनार्ड हिमालय की ओर क्यों जाने लगे ? वह वापस लौटा और कनखल की ओर चला । आनन्दमयी माँ के आश्रम में पहुँच गया । माँ के सामने एकाग्र दृष्टि करके देखता ही रहा..... देखता ही रहा.... । वह जिज्ञासु था । संसार के भौतिक आकर्षणों से उबकर वह निष्कर्ष पर पहुँचा था कि आखिर आत्मशान्ति ही सार है । जीवनदाता सदैव हमारे साथ है किन्तु कोई संत–पुरुष मिलें तभी आन्तर यात्रा हो सकती है । इस विचार से वह संत पुरुष की खोज में भारत आया था ।

मूल्य चुकाने पर जो चीज मिलती है उसकी कद्र होती है । बिना मूल्य जो मिल जाता है उसमें मजा नहीं आता ।

ओनार्ड कुछ दिन तक माँ के सान्निध्य में रहा । विदा होते समय माँ के आशीर्वाद लेने गया :

''माँ ! अब मैं अपने देश में जाता हूँ ।''

माँ ने कहा : ''मैं वहाँ भी हूँ । मैं सर्वत्र हूँ ।''

ओनार्ड की आँखें भर आयी । माँ के वचन अनुभूति से सम्पन्न थे ।

ओनार्ड अपने देश में गया । कुछ वर्षों के बाद फिर भारत में आया और आनन्दमयी माँ के पास रहा । वह जब जाने लगा तो माँ ने टूटी फूटी अंग्रेजी भाषा में कहा :

"Only one I am. There is no boundry."

ओनार्ड माँ की ओर भावपूर्ण नयनों से देखता ही रह गया । माँ की टूटी फूटी भाषा में भीतर का वास्तविक सत्य छलक रहा था । उसे बहुत ही सान्त्वना का एहसास हुआ ।

अमेरिका से एक यात्री दम्पति, पति और पत्नी आनन्दमयी माँ के दर्शन करने आये थे । वे जब दर्शन करके लौट रहे थे तब माँ ने अपने स्वभाव के अनुसार कहा :

''मैं तो बालिका हूँ । मैं तो कुछ भी नहीं जानती। मैं तो आपकी बच्ची हूँ।''

यह सुनकर वह अमेरिकन इतना भावविभोर हो गया कि वह माँ कि पीठ पर हाथ–घूमाकर चुम्बन करने लगा । उसकी पत्नी भी चुम्बन करने लगी । वे लोग माँ को अपनी गोद में बिठाकर अपनी बच्ची की तरह प्यार करने लगे । आखिर भावपूर्ण हृदय लेकर वे लोग लौट गये तब आनन्दमयी माँ कहने लगीं :

''इस शरीर को ऐसा चुम्बन तो माँ ने भी नहीं किया होगा और बाप ने भी नहीं किया होगा । मैंने जिस घर में जन्म लिया था उस घर में किसीने भी इस प्रकार स्नेह नहीं किया होगा ।''

वास्तव में आत्मा असीम है । सीमाएँ मन–बुद्धि ने बनायी हैं । मन–बुद्धि के प्रकाशक हमारे आत्मा–स्वरूप में कोई सीमा नहीं है । आकाश से भी अत्यन्त सूक्ष्म अपना स्वरूप है । आनन्दमयी माँ की तरह आप भी आत्मस्वरूप में स्थित हो जाएँ । यही परम पुरुषार्थ है ।

डायबीज एवं अन्य रोगों के लिए चमत्कारिक 'पानी प्रयोग'

बिना खर्च किये ही रोगों से बचकर तन्दुरुस्त बनो ।

नई एवं पुरानी प्राणघातक बीमारियाँ दूर करने के लिए यह एक अत्यंत सरल एवं बहुत बढ़िया प्रयोग है । इसको हम यहाँ 'पानी प्रयोग' कहेंगे । 'पानी प्रयोग' नामक एक लेख 'जापानीज सिकनेस एसोसीएशन' की ओर से प्रकाशित हुआ है । उसमें बताया गया है कि यथायोग्य रीति से 'पानी प्रयोग' किया जाय तो निम्नलिखित पुरानी तथा नई प्राणाघातक बीमारियाँ दूर हो सकती हैं :

- मधुप्रमेह (डायबीज)
- सिरदर्द, ब्लड़प्रेशर, एनिमिया (रक्त की कमी), जोडों का दर्द, लकवा (पेरिलिसिस), मोटापन, हृदय की धड़कनें एवं बेहोशी ।
- कफ, खांसी, दमा (ब्रोन्काईटीस), टी.बी.
- मेनोनजाइटीस, लीवर के रोग, पेशाब की बीमारियाँ ।
- एसीडीटी (अम्लपित्त), गेस्ट्राईटीस, (गैस विषयक तकलीफें), पेचीश, कब्जी, हरस ।
- आँखों की हर किस्म की तकलीफें ।
- स्त्रियों का अनियमित मासिक स्राव, प्रदर, (ल्युकोरीया), गर्भाशय का केन्सर ।
- नाक, कान एवं गले से सम्बन्धित रोग आदि आदि ।

पानी पीने की रीति

प्रभात काल में जल्दी उठकर, बिना मुँह धोये हुए, बिना ब्रश किये हुए करीब सवा लिटर (चार बड़े गिलास) पानी एक साथ पी लें । तदनन्तर ४५ मिनट तक कुछ भी खायें पियें नहीं । पानी पीने के बाद मुँह धो सकते हैं, ब्रश कर सकते हैं । यह प्रयोग चालू करने के बाद सुबह में अल्पाहार के बाद, दोपहर को एवं रात्रि को भोजन के बाद दो घण्टे बीत जाने पर पानी पियें । रात्रि के समय सोने से पहले कुछ भी खायें नहीं ।

बीमार एवं बहुत ही नाजुक प्रकृति के लोग एक साथ चार गिलास पानी नहीं पी सकें तो वे पहले एक या दो गिलास से प्रारंभ करें और बाद में धीरे धीरे एक एक गिलास बढ़ाकर चार गिलास पर आ जाएँ । फिर नियमित रूप से चार गिलास पीते रहें ।

बीमार हो या तन्दुरुस्त, यह प्रयोग सबके लिए इस्तेमाल करने योग्य है । बीमार के लिए यह प्रयोग इसलिए उपयोगी है कि इससे उसे आरोग्यता मिलेगी और तन्दुरुस्त आदमी यह प्रयोग करेगा तो वह कभी बीमार नहीं पड़ेगा ।

अनुभव एवं परीक्षणों से निष्कर्ष निकला है कि इस प्रयोग से विभिन्न रोग निम्न लिखित समय मर्यादा में दूर हो सकते हैं :

- हायपरटेन्शन (रक्त का दबाव) एक महीने में ।
- गैस की तकलीफें दस दिन में ।
- डायबीज एक महीने में ।
- कब्जी दस दिन में ।
- केन्सर छः महीने में ।
- टी.बी. तीन महीने में ।

जो लोग वायु रोग एवं जोड़ों के दर्द से पीड़ित हों उन्हें यह प्रयोग एक सप्ताह तक दिन में तीन बार करना चाहिए । एक सप्ताह के बाद दिन में एक बार करना पर्याप्त है । यह 'पानी प्रयोग' बिल्कुल सरल एवं सादा है । इसमें एक भी पैसे का खर्च नहीं है । हमारे देश के गरीब लोगों के लिए बिना खर्च एवं बिना दवाई के आरोग्यता प्राप्त करने की यह एक चमत्कारिक रीति है ।

तमाम भाइयों एवं बहनों को बिनती है कि इस 'पानी प्रयोग' का हो सके उतना अधिक प्रचार करें । रोगियों के रोग दूर करने के प्रयासों में सहायरूप बनें ।

'पानी प्रयोग' में जो लोग चार गिलास पानी एक साथ

नहीं पी सकते हों उन्हें प्रथम एक या दो गिलास से प्रारंभ करना चाहिए । चार गिलास पानी पीने से स्वास्थ्य पर कोई भी कुप्रभाव नहीं पड़ता । हाँ, प्रारंभ के तीन चार दिन तक पानी पीने के बाद दो तीन बार पेशाब होगा लेकिन तीन चार दिन के बाद पेशाब नियमित हो जाएगा ।

... तो भाइयों एवं बहनों ! तन्दुरुस्त होने के लिए एवं अपनी तन्दुरुस्ती बनाये रखने के लिए आज से ही यह 'पानी प्रयोग' शुरु करके बीमारियों को भगायें । आज से हम सब तन्दुरुस्त बनकर जीवन में दया, मानवता एवं ईमानदारी लाकर पृथ्वी पर स्वर्ग को उतारेंगे....

प्रातःकाल में दातुन करने से पहले पानी पीने से कई रोग मिट जाते हैं ऐसा हम लोगों ने हमारे बुजुर्गों से कहानी के रूप में सुना है किन्तु अब हमारे देश के बुजुर्गों की बातों का प्रचार–प्रसार विदेशी लोगों के द्वारा किया जाता है तब हमें पता चलता है कि कैसा महान है भारत का शरीर–विज्ञान और अध्यात्म–ज्ञान !

(पेज ८ से चालू...)

लोगों को ठीक करने की बजाय अपने आपको ठीक कर लो । तुम्हारे सभी कार्यों के पीछे ईश्वर का हाथ देखो । सफलता–विफलता, सुख–दुःख में सम रहो । तुम जिससे मिलो उसकी गहराई में परमात्मा को देखो तो तुम्हारा कर्म महापूजा बन जायेगा ।''

पूज्य बापू ने नारायण नाम की महिमा बताते हुए कहा कि : ''हिरण्यकशिपु ने नारायण नाम दुश्मन समझकर लिया फिर भी उसके घर भक्त प्रहलाद जैसा लड़का हुआ । प्रहलाद ने कहा कि हरि नाम, हरि ॐ कहने से मुख, जिह्वा पवित्र होती है । हरि नाम कहकर ताली बजाने में हाथ के सभी रक्तकण पवित्र होते हैं । हरि नाम सुनने से कान पवित्र होते हैं । हरि को प्रेम करने से मनुष्य परमात्मा को प्राप्त होता है ।''

महाराजश्री ने राजा सुषेण की कथा बताते हुए कहा कि : ''जो कार्य तुम कर रहे हो वही उत्तम कार्य है । जिस समय तुम यह कार्य कर रहे हो, वही उत्तम समय है एवं जिस व्यक्ति से बात कर रहे हो या मिल रहे हो वह उत्तम व्यक्ति है ।''

महाराजश्री ने कहा कि ''सतसंगत से ही मनुष्य अपना आगे का जीवन सुधार सकता है । उसको परमात्मा की प्राप्ति होती है ।'' उन्होंने कबीरदासजी का यह दोहा बोलते हुए आज के प्रवचन का समापन किया :

कबीरा नौबत अपनी दस दिन लियो बजाय,
यह पुर पट्टन यह गली बहुरी न देखो आय ।

यानी हे मनुष्य ! यह दस दिन की जिन्दगी है, उसको भगवान का भजन करके सुधार ले, ताकि बार–बार इस जन्म और मृत्यु से छुटकारा हो जाय ।

नये भारत की आत्मा के शिल्पी पू. बापू

वाणी का वैभव क्या होता है, उसके शब्द–शब्द में जादू का चमत्कार क्या प्रभाव छोड़ता है और लाख–लाख मनुष्यों का उमड़ता–उफनता सैलाब किस प्रकार आत्मानुशासित होकर किसी लोकोत्तर महामानव श्री बापू के श्रीमुख से निःसृत प्रवचन–गंगा में अवगाहित होकर अपने को किस प्रकार धन्य–धन्य अनुभव करता है ? यह सब देखने–समझने का अपूर्व अवसर मुझे अब तक दो बार प्राप्त हुआ है।

बापू श्री आसारामजी महाराज को सुनना यह एक ऐसा अनुभव है, जो द्वापर में आत्मार्थी अर्जुन को प्राप्त हुआ था या फिर इस घोर कलियुग की त्रासद छाया में जीनेवाले हम जैसे सामान्य जनों को प्रभु की अहैतुक कृपा के रूप में प्राप्त हुआ है, हो रहा है ।

योगयात्रा

बापू चिन्मय भारत की तपोज्ज्वल ऋषि–परंपरा के ध्वजवाहक हैं । बापू का बहुआयामी तेजोवलय – विभूषित व्यक्तित्व हिमालय के नभचुम्बी देवदारू वृक्ष–सा दिनानुदिन विराट् होते जा रहा है, जिसकी शीतल छाया में आनेवाले कल के कई ध्रुव, कई प्रह्लाद, कई उद्दालक, कई नचिकेता, कई शिवा और गोविन्द साधनारत हैं, संस्कार ग्रहण कर रहे हैं, दीक्षित हो रहे हैं । बापू लाख–लाख जनों के, जिनमें पुरुष हैं; नारियाँ हैं, युवान हैं, बालक हैं, उनके न केवल गुरु हैं, न केवल अनुशास्ता हैं, न केवल पथ–प्रदर्शक हैं, बल्कि उन सबके मित्र भी हैं, सखा भी हैं, माता–पिता भी हैं । वे सहज सौम्य हैं । महाप्राज्ञ हैं। हंस–मनीषा के धनी हैं । सरल–तरल हैं ।

बापू का बहुआयामी, तेजोवलय-विभूषित व्यक्तित्व हिमालय के नभचुम्बी, देवदारु वृक्ष–सा दिनानुदिन विराट होते जा रहा है, जिसकी शीतल छाया में आनेवाले कल के कई ध्रुव, कई प्रह्लाद, कई उद्दालक, कई नचिकेता, कई शिवा और गोविन्द साधनारत हैं ।

पूज्य श्री बापू के सत्संग में, उनकी ओज–प्रसादमयी वाणी का ऐसा सम्मोहन है कि सभी मंत्रमुग्ध, सभी रोमांचित, सभी की आँखों में प्रेमाश्रु, सभी सुध–बुध बिसारे । भक्ति–विह्वल मीरा और महाप्रभु चैतन्य के संस्करण उन असंख्य पुरुषों–महिलाओं, युवानों और बालक–बालिकाओं ने हरि ॐ – हरि ॐ के नादब्रह्म से धरती और आकाश के अणु–अणु को गुंजित कर दिया । पुराणकालीन भारत का कथा–तीर्थ नैमिषारण्य बापू की उपस्थिति में ८८ हजार ऋषियों के गुणनफल के साथ जैसे एकबारगी ही मूर्तिमन्त हो उठा हो !

अपने प्रवचनों की गंगा को उद्दाम वेग से प्रवाहमान करने के दरमियान वे हास्य और गुदगुदा देनेवाले विनोद की फुलछड़ियाँ भी छोड़ते जाते हैं जिसके कारण श्रोता कभी एकरसी ऊबाऊपन (**Monotony**) का शिकार नहीं होता । वे प्रखर वाग्मी हैं । वेदान्त–दर्शन को जन–सामान्य की भाव–भूमि में उतार, उसे नर से नारायण की विकासयात्रा के लिए बापू जो पाथेय देते हैं, दे रहे हैं, उससे हमारा यह विश्वास मजबूत हो रहा है कि हम उस महानाविक की नौका में सवार हैं, जो हमें सकुशल अपने उस गंतव्य तक पहुँचा देगा जहाँ आत्मा और परमात्मा के बीच की विभाजक रेखा समाप्त हो जाती है – जहाँ जीव और ब्रह्म के बीच का घट–पर्दा सदा–सदा के लिए दूर हो जाता है ।

संत श्री आसारामजी बापू की उपस्थिति और उनकी स्वस्तिक सन्निधि इस निरपेक्ष सत्य की साक्षी है कि गुरु वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य, भारद्वाज, अगस्त्य और बादरायण व्यास अभी अन्तर्धान या तिरोहित नहीं हुए हैं इस धराधाम से । वे आज भी विद्यमान हैं । उन्हें देखने–समझने के लिए चाहिए अनाविल दृष्टि और निर्मल मन ।

आज के अशांति और तनावग्रस्त वातावरण में पूज्य बापू का सत्संग–प्रसाद जन–जन तक पहुँचाने का कार्य पवित्र कार्यकर्ताओं और सरकार को करना चाहिए।

– रत्नेश कुसुमाकर
३४, पत्रकार कॉलोनी, इन्दौर–४५२ ००१

❀

परिश्रम के पुष्प

मतंग ऋषि अपनी एकाग्रता से, तप से, योग से, विद्या से, शास्त्रज्ञान से ऋषि–मुनियों के जगत में सुप्रसिद्ध थे । शबरी ने उन्हें गुरु मानकर उनके आश्रम में तप किया था । दूर–दूर के भक्त आकर उनके आश्रम में एकान्तवास का लाभ उठाते थे । बारिश आने से पहले चतुर्मास में मतंग ऋषि के आश्रम में इंधन एकत्रित कर दिया जाता था । एक ऐसा वर्ष आया कि इंधन एकत्रित करनेवाले साधक नहीं आए और किसीको याद भी नहीं रहा । मतंग ऋषि को याद आया कि वह टुकड़ी तो नहीं आई जो इंधन एकत्रित करती थी । मतंग ऋषि ने उठाया कुल्हाड़ा । कौन जाने कब बारिश आ जाय? लकड़ियाँ इकट्ठी करने वे चल पड़े जंगल की ओर । उनका कुल्हाड़ा उठाना था कि सब साधक अपना–अपना साधन छोड़कर गुरु के पीछे हो लिये । दोपहर तक लकड़ियाँ काटते रहे । गुरु महाराज ने अपने सिर पर लकड़ियों का एक बोझा उठाया । साधकों ने भी अपने–अपने बल के अनुसार लक्कडों के गठ उठा लिये । नीचे धरती तवे जैसी तपी हुई थी और ऊपर भगवान भास्कर ! गर्मियों के आखिरी दिन थे । बारिश आने का समय, साधकों का शरीर पसीने से तरबतर हुआ । पसीना टपक–टपककर जमीन पर बूँदें गिर रही थी । कैसे भी करके सब आश्रम में पहुँचे । स्नानादि करके अपना अपना नित्य–नियम किया ।

चार–छः दिन बीते । मतंग ऋषि सरोवर पर स्नान करने गये, तो देखा कि बड़ी सुगंध आ रही है ! सुगंध कहाँ से आती है? शिष्यों से कहा कि –

"देखो जरा, हवा में ऐसी जोरदार सुगंध कहाँ से आ रही है ?"

शिष्यों ने पता लगाकर बताया कि : "हम लोग जहाँ से पसार होकर आ रहे थे, हम लोगों के पसीने की बूँदें चार–छः दिन पहले जहाँ गिरी थी, वहाँ फूलों के पौधे हो गये और फूलों की महक पूरे वातावरण को महका रही है ।"

जब साधक के पसीने की बूँद कहीं गिरती है तो वह पुष्पवाटिका बन जाती है । तो ऐसा साधक अपनी योग्यता तुच्छ बातों में और रागद्वेष के वातावरण में न खपाकर मेहनती हो जाय तो उसकी योग्यता और निखरती है । एकाग्रता से कई योग्यताएँ विकसित होती हैं । तुम्हारे उस सच्चिदानंदघन परब्रह्म परमात्मा में तो अनुपम रस भरा है । तुम्हारे अंदर सबको रस देनेवाला रस स्वरूप परमात्मा है, चित्त की विषमता के कारण उस रस का अनुभव नहीं होता ।

अतः विषमता मिटाने और समता के सिंहासन पर पहुँचानेवाले सत्संग–साधन–स्मरण में तत्परता से लग जायें ।

अनन्य निष्ठा

कोई बड़े पहुँचे हुए अनुभवी गुरु थे । उनके पास कोई दीक्षा लेने जाता तो वे गुरु उसे अपने खेत में ले जाते थे । अपने खेत के पास में किसी किसान का दूसरा खेत था । उसने पानी के लिए कुंआँ खोदा था । एक–दो–तीन नहीं, सात कुंएँ खोदे थे, आठवाँ खोद रहा था ।

गुरु बताते – "देख, यात्रा करनी है और इसकी नाँई करनी है तो इसीका चेला बन जा । इसने सात कुंएँ खोदे हैं । १० फिट खोदा, देखा कि पानी नहीं निकला तो छोड़ दिया । फिर दूसरी जगह खोदा । वहाँ भी पानी नहीं निकला, १०–१२ फिट गहरा गया था । तीसरी जगह खोदा, चौथी जगह खोदा, ऐसे सात जगह पर कुंएँ खोदे हैं । खेत को कुंओं में बदल दिया, मगर अभी तक पानी से ठन–ठनपाल है । अगर मेरा साधक होना है तो एक ही जगह पर गहरी खुदाई करनी पड़ेगी । वह किसान अपनी खोदने की शक्ति एक ही जगह पर लगाता तो शायद पानी मिल जाता । मगर उसने सात–सात कुंएँ किये फिर भी पानी नहीं मिला । आठवाँ भी करेगा और ऐसी ही यात्रा करेगा तो पानी नहीं मिलेगा । ऐसे ही थोड़ा कुछ यह कर लिया, थोड़ा कुछ उस ढंग का कर लिया तो उसमें शक्ति बिखर जाती है ।

❀

❀ सिर पर आकाश टूट पडे या बिजली गिरे तो भी भयभीत मत बनो । दुःखों से डरना, रस्सी को साँप समझकर डरने के बराबर है ।

❀ गम्भीर से गम्भीर परिस्थितियों में भी अपना मानसिक संतुलन बनाये रखो । क्षुद्र अबोध जीव तुम्हारे विरुद्ध क्या कहते हैं इसकी तनिक भी परवाह मत करो ।

❀ यह जगत तो छोटे बच्चों के खिलौने के समान है । जब हम उसे समझ लेंगे तब उसकी कोई भी चीज़ हमें आकर्षित नहीं कर सकेगी ।

गोवर्धन विद्याविहार संस्कृत पाठशाला (खड़गदा, जि. डुंगरपुर) के आचार्य एवं विद्यार्थियों द्वारा पूज्यश्री का बहुमान... वैदिक मंत्रों से स्वागत सत्कार...

गौरेश्वर (सागवाड़ा) में स्थित संत श्री आसारामजी आश्रम की शान्तिकुटीर...

देवास में श्रीराम गजानन महाराज मंदिर में नियमित रूप से चलता हुआ विडियो सत्संग...

संत श्री आसारामजी सत्संग मंडल, रतलाम द्वारा लक्कड़पीठा (रतलाम) में आयोजित विशाल सत्संग समारोह...

Registered with Registrar of Newspapers for India Under No. 48873/91

गौहाटी (आसाम) में धर्मधुरंधर पूज्य बापू का शंखनाद एवं उसमें उत्साहपूर्वक सुर मिलाते हुए नौ प्रांत के श्रद्धालु जन...
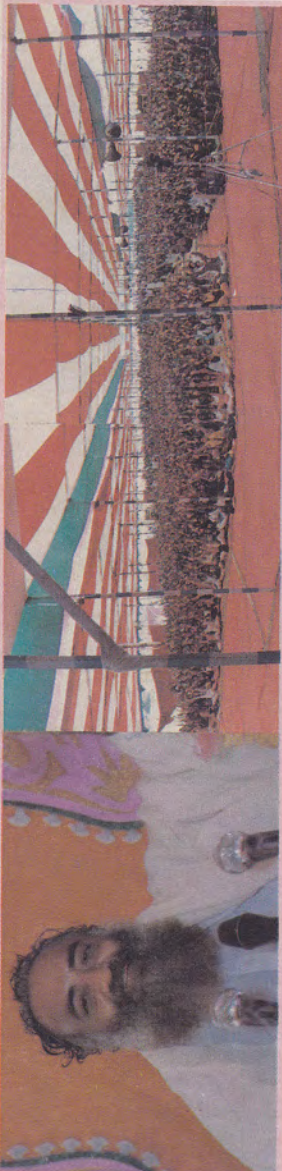
गौरेश्वर (सागवाड़ा) में दिव्य सत्संग समारोह एवं विद्यार्थियों के लिए ध्यान योग शिविर में उपस्थित भाई-बहन एवं आम जनता की एक झाँकी...

मोडासा (गुजरात) में दिव्य सत्संग समारोह में उपस्थित जनता-जनार्दन...

राजकोट (गुजरात) के आश्रम में विडियो सत्संग केन्द्र के उद्घाटन प्रसंग पर साधकों, भक्तों का विशाल जन-समूह...

साधारण जीवत्व से ऊपर उठकर शिवत्व की यात्रा मनुष्य के लिए लाखों वर्षों की हो सकती है । मनुष्य अगर पुरुषार्थ करे तो यह फासला कुछ वर्षों में भी तय हो सकता है । यह पुरुष–प्रयत्न पर निर्भर है, पुरुषार्थ पर निर्भर है ।

पुरुषार्थ के चार विभाग हैं : धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ।

अर्थ और काम में तो सामान्य जन से लेकर विशिष्ट व्यक्तित्व–सम्पन्न सब कोई प्रवृत्त होते हैं । कई पुण्यात्मा धर्म का अनुष्ठान करते हैं और कोई कोई विरला बुद्धिमान मोक्ष का पुरुषार्थ करता है । मोक्षरूपी चतुर्थ पुरुषार्थ जो कि भारतीय सनातन धर्म व संस्कृति का मुख्य अर्थ है, मुख्य प्राप्तव्य है उसे पाने की लालसा जगना बड़े सौभाग्य की बात है, पुण्योदय का फल है । उसकी पुष्टि होना सद्भाग्य की बात है और उसकी सफलता पुरुष–प्रयत्न पर निर्भर है ।

पुरुष–प्रयत्न क्या है ?

इसी जीवन में, मृत्यु से पहले अपने अमर शाश्वत स्वरूप में टिक जाना और जीवन–मृत्यु, सुख–दुःख, हानि–लाभ, मान–अपमान आदि द्वन्द्वों को मृग–मरीचिकावत् या स्वप्नतुल्य समझकर स्वस्वरूप में, आत्मा–परमात्मा में स्थित होना यही वास्तविक पुरुषार्थ है, पुरुष–प्रयत्न है ।

मनुष्य को अपने परम पुरुषार्थ मोक्ष याने सच्चे अर्थों में आत्म–साक्षात्कार के मार्ग में अग्रसर करने के लिये 'ऋषि प्रसाद' में सामग्री प्रस्तुत की जाती है । हम चाहते हैं कि इस ऋषियों के प्रसाद 'ऋषि–प्रसाद' से पाठक वर्ग में परम पुरुषार्थ आत्म–साक्षात्कार की जागृति हो । आत्म–साक्षात्कार के लिए लालसा की जागृति आत्म–साक्षात्कार का मार्ग खोजती है और मार्ग पर चलनेवाला मंजिल तय करता है ।

'ऋषि प्रसाद' के इस अंक में संतवाणी, नचिकेता को यमराज का तत्त्वोपदेश, जनकशुकदेव ज्ञानवर्षा, अवन्ति के सेठ नागदत्त की जागृति, स्वास्थ्य के लिए सचोट असरकारक पानी–प्रयोग आदि सामग्री एवं पूज्यश्री के सत्संग की सर्वव्यापी महक के समाचार प्रस्तुत हैं ।

विनीत,
श्री योग वेदान्त सेवा समिति

❀

जो जन्म ले नहीं जन्मता जन्मा उसे ही जानिये ।
मरकर नहीं मरता पुनः मरना उसीका मानिये ।।
ले जीत जग संग्राम को रणशूर उसको ही कहो ।
है अन्य झूठे शूर जो हो शूर तो ऐसे ही हो ।।

❀

संसार सागर तरण हित गुरुपाद जहाज बनाइये ।
वैराग्य अरु अभ्यास की सीढ़ी बना चढ़ जाइये ।
मल्लाह सद्गुरु रूप पर विश्वास पूरा लाइये ।
तन मन वचन तिहुँ अर्पि कर भव सिन्धु से तर जाइये ।।
– भोले बाबा

❀

आप आत्मशक्ति का विकास कीजिए । आपका प्रयास संसार की आसक्ति घटाने का और भगवद्प्रीति बढ़ाने का होना चाहिए । अपना मन सदैव सत्कर्म में लगाये रखो । जप में, ध्यान में, सत्संग में, सेवा में, स्मरण में अपना मन पिरोया हुआ रखो । एक शुभ कार्य की पूर्णाहुति होते ही दूसरे शुभ कार्य का प्रारम्भ कर दो । इस प्रकार आप उन्नति के शिखर पर पहुँच जाएँगे... भगवान और गुरुदेव के दुलारे हो जाएँगे ।

– पूज्यपाद संत श्री आसारामजी बापू

पूज्यपाद संत श्री आसारामजी महाराज

जो मंजिल चलते हैं वे शिकवा नहीं किया करते और जो शिकवा किया करते हैं वे कमबख्त पहुँचा नहीं करते ।

जो आध्यात्मिक मार्ग पर चलते हैं, मुलाकात के समय उनकी प्रेमाभक्ति जोर मारती है और वियोग के समय विरहभक्ति जोर मारती है । हर परिस्थिति में वे समझते हैं कि वाह प्रभु ! तेरी लीला अपरंपार है ।

इस प्रकार भक्त की निगाह कर्म के फल पर नहीं होती । भक्त की निगाह भगवान पर होती है, अपने आत्म-स्वरूप पर होती है । इसीलिए भक्त का पूर्वकाल का शुभाशुभ कर्मफल आसानी से कट जाता है । वर्तमान में वह जो कुछ करता है, भगवान का होकर करता है, कर्त्ता बनकर नहीं ।

अहं विषयक तीन प्रकार की दृष्टियाँ हैं :

'सिर से पैर तक जो देह है वह मैं हूँ.... गोविन्दभाई ।' यह क्षुद्र दृष्टि है । कुछ हाड है, कुछ मांस है, कुछ त्वचा है, कुछ रक्त है, कुछ नस-नाड़ियाँ हैं । इस देह को जो 'मैं' मानता है वह क्षुद्र अहंकारवाला गिना जाता है । इस देह पर नाम-रूप थोपे हुए हैं, जाति-पाँति थोपी हुई है । इस देह को 'मैं' मानकर जो जीता है, कुछ होकर जो दिखाना चाहता है उसे दिन में न जाने कितने ही बिच्छू काटते होंगे ! जरा-सी प्रतिकूलता आयी, परेशान हो गया, जरा-सा अपमान हुआ, डंक चुभ गया ।

नकली 'मैं' को संभालने के लिए न जाने कितनी कितनी जगह नाक रगड़ना पड़ता है ! कितनों को संभालना पड़ता है ! लोग समझते हैं कि फलाना आदमी बड़ा सेठ है, बड़ा आदमी है किन्तु उन बेचारे सेठों को कितनों कितनों का नौकर बनना पड़ता है, उन बड़ों को कैसे कैसे की खुशामद करनी पड़ती है यह वे ही जानते हैं ।

देह को 'मैं' मानकर बाह्य ढंग से अपने अहंकार का विस्तार किया जाता है, अहंकार बढ़ाया जाता है, तब उस बड़प्पन के भीतर बहुत खोखलापन होता है । देह को 'मैं' मानना और नश्वर चीजों को 'मेरी' मानना यह नितान्त क्षुद्र अहंकार है ।

इस क्षुद्र अहंकार से बचने के लिए, इससे ऊपर उठने के लिए एक मध्यम प्रकार के अहंकार का अवलम्बन भक्तिमार्ग में लिया गया कि : 'मैं देह नहीं हूँ, जीव हूँ, भगवान का अंश हूँ । मैं भगवान का भक्त हूँ । मैं भगवान का हूँ और भगवान मेरे हैं ।'

यह मध्य अवस्था है । उस क्षुद्र अहंकार से यह बहुत ऊँची अवस्था है । श्रीकृष्ण कहते हैं :

सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

'संपूर्ण धर्मों को अर्थात् संपूर्ण कर्त्तव्यकर्मों को मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान सर्वाधार परमेश्वर की ही शरण में आ जा । मैं तुझे संपूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर ।'

(भगवद्गीता १८.६६)

श्रीकृष्ण यहाँ अपने शुद्ध 'मैं' में खड़े हैं । गंगा गंगा नहीं है, सागर हो गई है । जो बुद्ध पुरुष हैं, जिनका अनुभव छलकता रहता है ऐसे श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं :

मामेकं शरणं व्रज ।

जो लोग क्षुद्र अहं में, क्षुद्र 'मैं' में उलझे हुए हैं उनको लगेगा कि यह बात अटपटी है । 'सब धर्मों को छोड़कर मेरी शरण आ जा...' कहने में कितना साहस चाहिए ! कितनी हिम्मत चाहिए ! पर हाँ, साहस और हिम्मत चाहिए उनको जो मध्य अहं में खड़े हैं या क्षुद्र

भक्त की निगाह भगवान पर होती है, अपने आत्म-स्वरूप पर होती है । इसीलिए भक्त का पूर्वकाल का शुभाशुभ कर्मफल आसानी से कट जाता है ।

अहं में उलझे हैं । जो अपने विशुद्ध अहं में प्रतिष्ठित हैं उनके लिए तो यह खेल मात्र है । श्रीकृष्ण के लिए यह खेल मात्र है ।

नकली कर्त्ता कदम-कदम पर ठोकर खाता है । वह सोचता है कि मैं कर्म तो चाहे जो कर लूं लेकिन उसका फल मुझे सुख ही मिले । मैं मिर्च खा लूं चाहे शक्कर खा लूं लेकिन लगना चाहिए सब मीठा-मीठा ।

श्रीकृष्ण का उपदेश सुनने-वाला अर्जुन था । वह कुछ योग्यतावाला था, अधिकारी था। वह श्रीकृष्ण को समझ रहा था, झेल रहा था, उसने सन्देह नहीं किया कि आप तो मेरे सारथि हैं और मैं आपके शरण हो जाऊँ ? वह ठीक से समझ रहा था कि **'मामेकं शरणं व्रज'** बोलनेवाले श्रीकृष्ण साढ़े तीन हाथवाले, रथ की बागडोर पकड़े हुए 'मैं' को लेकर नहीं बोल रहे हैं अपितु अनन्त अनन्त ब्रह्मांडों में व्यापक जो शुद्ध 'मैं' है उसमें प्रतिष्ठित होकर बोल रहे हैं ।

श्रीकृष्ण अगर किसी साधारण मनुष्य को कहते कि **'मामेकं शरण व्रज'** तो वह मानता नहीं । श्रीकृष्ण को समझने के लिए, उनको आत्मसात् करने के लिए भी कुछ विकसित योग्यता चाहिए । अर्जुन में वह योग्यता थी । वह ऐसा नहीं कहता कि आपके शरण था तभी तो आपके हाथ में बागड़ोर पकड़ाई । विशाल शस्त्रसज्ज सेना को न माँगकर निहत्थे अकेले आपको माँगा । नहीं, अर्जुन इतना अविकसित बुद्धि का नहीं था । हाँ, वह तो संसारी था, भगवान को पाने के लिए युद्ध के मैदान में नहीं आया था । उसको तो राज्य का हिस्सा चाहिए था । फिर भी मनुष्यों में वह श्रेष्ठ था ।

कपड़े बदलने का संन्यास तो ठीक है । श्रीकृष्ण यहाँ शुभाशुभ कर्मों को ईश्वर में अर्पण करने रूप संन्यास की बात कर रहे हैं । जीव को कर्मों के फल का उपभोग करने की आकांक्षा रहती है । ऐसा नकली कर्त्ता कदम-कदम पर ठोकर खाता है । वह सोचता है कि मैं कर्म तो चाहे जो कर लूं लेकिन उसका फल मुझे सुख ही मिले । मैं मिर्च खा लूं चाहे शक्कर खा लूं लेकिन लगना चाहिए सब मीठा-मीठा ।

कर्म का अगर कर्त्ता रहा तो कर्म शुभ और अशुभ दोनों ही होंगे । कर्म शुभ और अशुभ होंगे तो शुभ का फल सुख और अशुभ का फल दुःख भी होगा । शुभ कर्म सुख देकर लीन हो जाएगा और अशुभ कर्म दुःख देकर लीन हो जाएगा । जब कर्त्ता अपने शुभाशुभ कर्मों का फल भोगेगा तब 'मैं भोग रहा हूँ... मुझे सुख मिला.... मुझे दुःख मिला' ऐसा कर्त्ता-भोक्तापन का भाव मौजूद रहेगा । 'मुझे सुख मिले, दुःख न मिले', इस इच्छा-वासना से कर्म होंगे और अपने को कर्त्ता बनाता रहेगा । कर्म और फल.... फिर नये कर्म और फल.... इस प्रकार कर्म-फल का चक्कर चालू रहेगा । शरीर का अन्त हो जायगा लेकिन कर्मों का संचय बना रहेगा । फिर दूसरा जन्म, तीसरा जन्म, चौथा जन्म..... जन्मों की परंपरा ।

जीव अगर शुभाशुभ कर्मों का फल ईश्वरार्पण कर दे, ईश्वरार्पण बुद्धि से नये कर्म होने लगे, कर्त्तापन ठोस में से तरल होते-होते बिल्कुल विलीन हो जाय तो कर्म-फल के चक्र का समापन हो जाय ।

जब ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म होता है तो उसमें सुख लेने की इच्छा नहीं होती । जो भी पाप होते हैं वे सुख लेने की इच्छा से होते हैं । दूसरों को सताना बुरा है ।

परहित सरिस धरम नहीं भाई ।
पर पीड़न सम नहीं अधमाई ॥

दूसरों को पीड़ा देना पाप है । पर मन जब सुख लेने के पक्ष में होता है तो दूसरों की पीड़ा का सोचता नहीं और आप सुख लेता है । जो भगवद्बुद्धि से कर्म करता है, भगवान का होकर कर्म करता है उसको सुख लेने के लिए बाहर के साधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती । उसको तो भगवद् भावना से ही सुख आ जाता है । वह केवल कर्त्तव्य-बुद्धि से सत्कर्म करता है । उसके कर्मों की परंपरा विस्तार को नहीं पाती । भगवद्बुद्धि से कर्म करता है इसलिए कर्मों का बन्धन नहीं होता । यह कर्मों का संन्यास माने कर्म तो करें लेकिन कर्म का बदला न चाहें ।

जीव अगर शुभाशुभ कर्मों का फल ईश्वरार्पण कर दे, ईश्वरार्पण बुद्धि से नये कर्म होने लगे, कर्त्तापन ठोस में से तरल होते-होते बिल्कुल विलीन हो जाय तो कर्म-फल के चक्र का समापन हो जाय ।

हमारा मन कितना बेईमान है ! वह चाहता है कि हम जो कुछ अच्छा करें उसका बदला मिलना ही चाहिए और बुरे कर्म का बदला न मिले । मन का यह स्वभाव है ।